Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित

राज्य-व्यवस्था

१५.१
प्र८८रा:४

डॉ० प्रशान्त कुमार वेदालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पुस्तकालय (विज्ञान विभाग)
विषय संख्या 95.9
पुस्तक संख्या प्र ८८ श:४
आगत पंजिका संख्या 70132
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि न लगायें।
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९५:१
पुस्तक:४

पुस्तकालय

70132

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या......... ..   आगत संख्या............

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं । इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

70132

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित

राज्य - व्यवस्था

COMPILED

डॉ० प्रशान्तकुमार वेदालंकार
एम.ए., पीएच. डी.
प्राध्यापक, हंसराज महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-११०००७

प्रकाशक
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक

गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६

सभी स्वत्व : लेखकाधीन

१५.१
प्र २८ ग : ४

संस्करण : प्रथम, दिसम्बर, १९७५

मूल्य : आठ रुपए

मुद्रक

अमर प्रिंटिंग प्रेस
८/२५ विजय नगर, दिल्ली-९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

आर्यसमाज की जन्मशताब्दी के अवसर पर 'महर्षि स्वामी दयानन्द के विचारों के अनुकूल राज्य-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए'—इसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से करते हुए मैं अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

इस पुस्तक में छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'शासन-व्यवस्था' का प्रतिपादन है और द्वितीय अध्याय में 'शासक और शासित' के सम्बन्ध पर विचार प्रकट किये गए हैं। स्वामी जी के अनुसार राज्य-व्यवस्था के चार मुख्य अंग है – (१) शिक्षा, (२) रक्षा (३) अर्थ, और (४) न्याय। इनमें से 'शिक्षा' के विषय में एक अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का मेरा विचार है, अतः इसके सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में प्रासंगिक उल्लेख ही कर दिये गये हैं। शेष तीन अंगों पर क्रमशः तृतीय, चतुर्थ और पंचम अध्याय में प्रकाश डाला गया है। षष्ठ अध्याय का नाम है—'स्वतन्त्रता का प्रेरक : महर्षि दयानन्द'। इसमें उनके द्वारा देश की उन्नति के लिए बताये गये उपायों और स्वतन्त्रता के लिए किये गए प्रयत्नों का वर्णन है। 'स्वामी जी ने तत्कालीन भारतीय राजनीति में क्या क्रियात्मक योग-दान दिया था'—इस सम्बन्ध में भी इस अध्याय में आनुषंगिक रूप से स्वतः प्रकाश पड़ गया है।

इस पुस्तक के लिखने में म० दयानंद के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों से सहायता ली गयी है। मैं उन सभी ग्रंथकारों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र मनु-स्मृति के उद्धरण दिये गए हैं, जिन्हें कि स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों, विशेषतः सत्यार्थप्रकाश, में उद्धृत किया था। वस्तुतः वेदानुकूल सभी विचारों को—जिनमें मनु महाराज के विचार भी सम्मिलित हैं—स्वामी जी ने आत्मसात् कर लिया था। अतः यहाँ मनु महाराज के विचारों को स्वामी जी के ही विचार मानकर प्रस्तुत किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक में अथवा स्वामी जी की किसी पुस्तक में राज्य-व्यवस्था-विषयक विचारों को पढ़कर प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक मेरे इन विचारों से पूर्णतः सहमत होगा कि स्वामी जी के क्रांतिकारी विचार न केवल आज से सौ वर्ष पूर्व उपयोगी थे, अपितु आज भी ये किसी भी देश, समाज अथवा व्यक्ति केलिए उपयोगी हो सकते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्श यदि सम्पूर्ण विश्व एक-साथ अपना ले, तो किसी भी देश का किसी दूसरे देश के प्रति द्वेष और वैमनस्य न रहे, और सभी देश एक दूसरे से, स्वतन्त्र रहते हुए भी, पारस्परिक सहयोग के बल पर उत्तरोत्तर उन्नति करते चले जाएं, और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो जाए।

इस ग्रन्थ को लिखने के प्रेरणा का श्रेय मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सरोज-कुमारी दीक्षा (प्राध्यापिका, संस्कृत-विभाग श्यामाप्रसाद मुखर्जी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) को देता हूँ, जिन्होंने अथ से इति तक इस ग्रन्थ के लेखन में मेरी हर प्रकार की सहायता की है।

अब मैं यह पुस्तक आपके हाथों में देता हूँ। यदि यह पुस्तक 'देश के लिए उपयुक्त राज्य-व्यवस्था कैसी हो?' यह सोचने के लिए प्रेरित कर सकी, तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा। किसी विचार से मतभेद हो, अथवा आधुनिक युग में उसे व्यवहार में लाने में कठिनाई प्रतीत होती हो, तो मुझे अपने पाठकों के साथ विचार-विमर्श करने में प्रसन्नता होगी। आशा है विद्वान् एवं उदार बन्धु मुझे उपयोगी सुझाव देकर अनुगृहीत करेंगे, तथा प्रूफ़-सम्बन्धी कतिपय अशुद्धियों के लिए क्षमा करेंगे।

—प्रशान्तकुमार वेदालंकार

७/२ रूप नगर, दिल्ली-७
आर्यसमाज-जन्म-शताब्दी
दिसम्बर १९७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

शासन-व्यवस्था

राजा की निरंकुशता का घोर विरोध	९
शासन के संचालन के लिए तीन सभाएं	१०
सभाओं के सदस्य और उनका सभापति राजा	११
सभासदों एवं सभापति का चुनाव	१२
राज्य के अन्य घटक	१६
अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी	१७
दूत	१८
कार्य-विभाजन	१९
राज्य अथवा राजा के कार्य	२२

द्वितीय अध्याय

शासक और शासित

शासक-वर्ग केवल भृत्य है	२८
राजा और प्रजा	२९
शासक का विशेष दायित्व	३१
विचार-स्वतन्त्रता, जनमत-संग्रह, राजाज्ञा	३४

तृतीय अध्याय

रक्षा-व्यवस्था

आन्तरिक सुरक्षा-व्यवस्था	३७
वाह्य सुरक्षा-व्यवस्था	३९
शत्रु-देशों से अपनी सुरक्षा	४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध के सिद्धान्त ४२
—युद्ध के उद्देश्य का निर्धारण और उसकी दृढ़ता ४२
—अप्रत्याशित अथवा अचानक कार्य-विधि ४४
—शक्ति का उचित केन्द्रीयकरण ४६
—शक्ति की मितव्ययता ४६
—सुरक्षा ४६
—लचीलापन ४८
—सहकारिता एवं मेल-मिलाप ४८
—आक्रामक कार्यवाही ४९
—मनोबल ४९
—कुशल-प्रशासन ५३
—युद्ध में उठाए कदम ५४
युद्ध में, और युद्ध के बाद शत्रु के साथ व्यवहार ५७

चतुर्थ अध्याय

अर्थ-व्यवस्था

परिभाषा ६०
अर्थ-संग्रह (कर-प्रणाली द्वारा) ६१
अर्थ-संग्रह (वृद्धि एवं व्यय) के चार पुरुषार्थ ६३
राज्य की आय का व्यय (बजट) ६५
पारिवारिक बजट ६८
सेवा-निवृत्त एवं दंडित कर्मचारी ६९
दान अथवा पुरस्कार में दिए धन व मूल्य की शर्तें ७१
शिल्प-कृषि (गौ एवं पशु-पालन) ७२
बेकारी की समस्या (असीमित उपभोग पर प्रतिबन्ध) ७५
(क) अनुपयोगी प्रणाली ७६
(ख) असीमित उपभोग ७७

पंचम अध्याय

न्याय-व्यवस्था

न्याय का आधार ८१
न्यायाधीश की परिभाषा ८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय की शीघ्र व्यवस्था ८३
न्यायाधीश : न्याय की कुर्सी पर ८४
न्यायालय में आए विवाद ८६
न्यायालय में वादी और प्रतिवादी ८७
राजा, राजपुरुष तथा न्यायाधीश के लिए दण्ड ९९
दड-नीति में भेद १००

षष्ठ अध्याय

देश की उन्नति व स्वतन्त्रता का प्रेरक : महर्षि दयानन्द

१८५७ की राज्यक्रान्ति में १०३
गुरु विरजानन्द से देशोन्नति की शिक्षा १०५
देश की दशा से द्रवित १०६
पराधीनता और दुर्दशा के कारण १०८
देश की स्वतंत्रता व उन्नति के प्रयत्न और उपाय ११०
—आर्यसमाज की स्थापना ११०
—स्वदेश-प्रेम एवं स्वराज्य की भावना १११
—पूर्ण स्वतंत्रता की कल्पना ११२
—देश की राजनीति व धार्मिक शक्ति का संगठन ११२
—भावात्मक एकता ११३
—कर्मण्यता और परिश्रम से जीवन-यापन और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग ११४
—राजस्थान के महाराजाओं तथा भारतीय प्रजा का मार्गदर्शन ११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पण

देश की राज्य-व्यवस्था में क्रान्ति-कारी परिवर्तन
के इच्छुक प्रत्येक विचारशील पाठक को—

—प्रशान्त कुमार

15.1,PR88RA:4
70132

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

शासन-व्यवस्था

सामान्य धारणा यह है कि समुचित राज्य-व्यवस्था एवं प्रजातन्त्र आदि का क्रियात्मक प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। पहले निरंकुश एवं स्वच्छन्द राजाओं का राज्य था। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा है। महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेदादि चारों वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुर प्रजागर, विदुरनीति तथा महाभारत शान्तिपर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि के आधार पर राज्य-व्यवस्था और प्रजातन्त्र का जो स्वरूप निर्धारित किया है,[1] वह आज भी उपयोगी हो सकता है। महर्षि दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा, शाहपुराधीश तथा जोधपुर आदि के महाराजाओं को राज्य-व्यवस्था एवं प्रजातन्त्र के उसी स्वरूप को अपनाने के लिए प्रेरित किया था। उनके अनेक व्याख्यान राजधर्म से सम्बन्धित ही थे। बड़ौदा में राजदीवान माधवराव की प्रार्थना पर स्वामी जी ने राजधर्म पर भी एक व्याख्यान दिया जिसमें अंग्रेजी न जानने वाले के मुख से राजनीति के गम्भीर सिद्धान्तों की व्याख्या सुनकर ऊँचे अधिकारी दंग रह गये।[2] यहां हम म० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

राजा की निरंकुशता का घोर विरोध

म० दयानन्द राज्य के लिए एक राजा (शासक) का होना आवश्यक समझते थे। किन्तु राजा की निरंकुशता उन्हें असह्य थी। दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण

---

१. देखिए : सत्यार्थप्रकाश पृ० १७७।

२. देखिए 'महर्षि दयानन्द'—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ७९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के 'राष्ट्रमेव'......[१] आदि के आधार पर राजाओं की स्वाधीनता का खण्डन किया है—'जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें। जिसलिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त हो के प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् वह राजा प्रजा को खाए जाता है, इस लिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे सिंह मांसा-हारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता। श्रीमान् को लूट खूंट अन्याय से दण्ड ले के अपना प्रयोजन पूरा करेगा।' एक अन्य स्थल पर उन्होंने पुनः लिखा— 'राज्य के लिए एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि जहाँ एक को राजा मानते हैं वहाँ सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है, इसी से किसी की उन्नति नहीं होती।'[२] उदयपुर के महाराणा को लिखे विशेष नियमों में इकतालीस नियम हैं—राज का कार्य एक पर निर्भर न रखे। किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।[३]

शासन के संचालन के लिए तीन सभाएँ

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के 'त्रीणि राजानः'[४] आदि मन्त्र के आधार पर देश की राज्यव्यवस्था के संचालन के लिए तीन सभाओं की स्थापना करने का परामर्श दिया है। वे तीन सभाएँ हैं—विद्यार्य-सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा। इन तीनों सभाओं से प्रजा को विद्या-स्वातन्त्र्य, धर्म एवं धनादि से अलंकृत करने के लिए कहा है। दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा के लिए दिनचर्या के नियमों में कहा—'इसको (राज्य को) निर्दोष चलाने के लिए एक राज समाज दूसरा विद्या समाज और तीसरा धर्म समाज नियत करे।'[५] उन्होंने ऋग्वेदादि-

---

१. राष्ट्रमेव विश्या। हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति। तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति। शत० १३।२।३ दे० सत्यार्थप्रकाश पृ० १३९।
२. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २३३।
३. दे० ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७०।
४. त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि। ऋग्० ३।३८।६ (दे०. सत्यार्थप्रकाश पृ० १३८)
५. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यभूमिका में भी लिखा है— 'तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिए एक आर्य राजसभा कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य ही सिद्ध किए जावें। दूसरी आर्य विद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य धर्मसभा कि जिसमें धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से युद्ध में सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिए।'[1]

सभाओं के सदस्य और उनका सभापति राजा

इन तीनों सभाओं में अनेक सभ्य अर्थात् सदस्य होने चाहिएं। अथर्ववेद १९.७.५५.६ के **'सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः'** के अनुसार जो सभा के योग्य सभासद् हैं वे सभा की व्यवस्था का पालन किया करें।[2] राजा उन सभासदों में से एक होता है, अपनी योग्यता के आधार पर सभापति बना दिया जाता है।

दयानन्द की स्पष्ट घोषणा है कि 'एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।'[3] अकेला राजा ही सब कुछ न हो इसके लिए दूसरा तर्क यह दिया है कि 'विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म हैं वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है, जब ऐसा है तो महान् राज्य कर्म एक से कैसे हो सकता है, इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है।'[4] कुछ अन्य स्थलों पर सभाओं की सर्वोच्चता प्रतिपादित की है—

(क) जब तक सभासदों की अनुमति न हो तब तक राजा अपने मन से एक भी काम न करे।[5]

---

१. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २१७।
२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १३९।
३. वही पृ० १३९।
४. **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।**
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥
मनु० (देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १४६)।
५. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) सभा द्वारा निर्दिष्ट कर्म करके सभा द्वारा निर्दिष्ट अधिकार का उपभोग करके धर्म से प्रयुक्त राजा फल का उपभोक्ता होता है।[1]

म० दयानन्द का मत है कि राजकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों की सभा हो। इनका यही काम है कि जितने जितने व्यक्ति जिस काम में होवें नियमानुसार यथावत् काम करें।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजा सभाओं का मात्र एक सदस्य है। सभा के परामर्श से ही वह राजकार्य सम्पन्न करता है। इन सभाओं का उस पर पूर्ण अंकुश रहता है। ये सभाएँ भी स्वतन्त्र अथवा निरंकुश नहीं हैं, इन पर प्रजा का अंकुश रहता है। इस प्रकार प्रजा पर इन सभाओं का और सभाओं पर प्रजा का अंकुश लगाकर इन सभाओं को भी स्वच्छन्द नहीं होने दिया।

सभासदों एवं सभापति का चुनाव

दयानन्द के अनुसार 'इन समाजों में राजपुरुष और प्रजापुरुष नियत रहें। राजपुरुष राजोन्नति और प्रजापुरुष प्रजा की वृद्धि में प्रयत्न किया करें और तीनों सभाओं के विचारानुकूल नये नियम प्रचलित किए जायें।[3] इससे सूचित होता है कि इन सभाओं में दो प्रकार के सदस्य होंगे—(१) राजपुरुष (२) प्रजापुरुष। राजपुरुष से अभिप्राय कुछ राज्याधिकारी तथा कुछ राजा द्वारा मनोनीत विशिष्ट क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्ति तथा प्रजापुरुष से अभिप्राय निर्वाचित सदस्यों से है। चुनाव के द्वारा ही सभा को प्रजाजन के अधीन रखना सम्भव है। प्रजा द्वारा चुने सभासद् मिलकर एक सभापति (जिसका नाम राजा था) का चुनाव करें।

प्रत्येक सभा में न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हो तो तीन विद्वानों की सभा होनी चाहिए। ये सदस्य निर्धारित व्यवस्था का उल्लंघन न करें।[4] दश और तीन दो संख्याएं देने से अभिप्राय यही है कि राज्य के परि-

---

१. निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।
(मनु० देखिए सत्यार्थप्रकाश पृ० १५७)।

२. अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वतम्॥
मनु० (देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१)।

३. देखिए, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७४। (उदयपुर के महाराणा को लिखे नियमों में ४:वाँ नियम)

४. दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्थातं धर्मं न विचालयेत्॥ (दे०, सत्यार्थप्रकाश १४३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण, राज्य की जनसंख्या एवं अन्य आवश्यकताओं आदि के आधार पर यह संख्या निर्धारित की जानी चाहिए।

सभाओं के सदस्य ब्रह्मचारी गृहस्थ और वानप्रस्थी तीनों ही रहें।[1] किंतु आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार अधिकार-सम्पन्न पद केवल २५ से ५०-५५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों को ही मिलने चाहिएँ। सभापति (राजा) होने का अधिकार ५० वर्ष की आयु तक ही है।

सभासदों की योग्यता—महा विद्वानों की विद्या सभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों की धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों की राजसभा के सभासदों में निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

(१) सभा के सभासद् चारों वेद, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता हों।[2] वेद समग्र जीवन के प्रति एक संतुलित दृष्टिकोण देते हैं। निरुक्त भाषा का समुचित प्रयोग करना सिखाते हैं तथा धर्मशास्त्र सदस्यों में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक सदस्यों में जागरित करता है, ये तीनों ही तत्त्व राज्यजीवन के लिए अनिवार्य हैं।

(२) चारों वेदों के विद्वानों से चारों विद्या-दण्डनीति आन्वीक्षिकी (न्याय-विद्या) आत्मविद्या (परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव) और वार्ता का जिन्होंने अध्ययन किया है,[3] वे ही सभा के सभासद् हों। दण्डनीति में राजनीति और दुर्नीति का वर्णन होता है। आन्वीक्षिकी में विपत्ति और सम्पत्ति में बुद्धि को ठीक ठीक रखने का विधान है। आत्मविधानों द्वारा सद्गुणों को धारण करने एवं उन्हें व्यवहार में लाने का उल्लेख है। वार्ता में कहना और पूछना अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान सिखाया जाता है। चाणक्य के अनुसार वार्ता में कृषि आदि का कथन है। इसमें धन और धनाभाव के साधनों की चर्चा है।[4]

---

१. **त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा।**
(मनु०, देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १४३)।

२. **त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।**
(दे० सत्यार्थप्रकाश पृ० १४३)।

३. **त्रैविद्येभ्यस्त्रयीविद्यां दण्डनीतिं च शास्त्रतीम्।**
अन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः॥
(दे०, स० प्र०, पृ० ४४)।

४. देखिए, कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) सभासद् वही होने चाहिएं जिन्होंने योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया हो। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही प्रजा को वश में रख सकता है।[1] जितेन्द्रिय होने के लिए काम से दस और क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसनों को छोड़ना आवश्यक है।[2] कामज व्यसन निम्नलिखित हैं— **मृगया खेलना, चौपड़ आदि खेलना**, दिन में सोना, काम कथा, परनिन्दा, **स्त्रियों का अतिसंग, मादक द्रव्य** (मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि), गाना-बजाना नाचना, नाच कराना, सुनना और देखना, वृथा इधर-उधर घूमते रहना।[3] इनमें 'काले अक्षरों वाले' चार महादुष्ट व्यसन हैं। क्रोध व व्यसन निम्नलिखित हैं—चुगली, बलात्कार, डाह, ईर्ष्या (दूसरे की उन्नति से जलना), असूया (दोषों में गुण और गुणों में दोष), **अर्थदूषण** (अधार्मिक कार्यों में धनादि का व्यय), **कठोर वचन, विना अपराध कड़ा दण्ड**।[4] इनमें 'काले अक्षरों वाले' तीन व्यसन सर्वथा त्याज्य हैं। स्पष्टतः, चुनाव में व्यक्ति के इन गुणों को देखना आवश्यक है।

प्रजा को निर्देश है कि विद्या सभा, धर्म सभा और राज सभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करे किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों की स्थापना करे।[5]

यह इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि भारत के वर्तमान संविधान में सदस्यों की किसी आवश्यक शैक्षणिक अथवा चारित्रिक योग्यता का उल्लेख नहीं है। दयानन्द की कल्पना के राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शिक्षा (जिस में चरित्र की उन्नति विशेष रूप से होगी) प्राप्त करने का अवसर देना आवश्यक है। यदि कोई राज्य व्यक्ति को पूर्ण शिक्षा देने का अवसर दे सका तो सदस्य की शैक्षणिक एवं चारित्रिक योग्यता की शर्त स्वतः अनिवार्य हो जाएगी।

---

१. इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ मनु (दे०,स०प्र०पृ० १४५)

२. दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ मनु (दे० स० प्र० पृ० १४५)

३. मृगयाक्षो दिवा स्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः।
तौर्य्यत्रिकं वृाट्या च कामजो दशको गणः॥ मनु (दे०स०प्र०पृ० १४५)

४. पैशून्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थद्वेषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ मनु (दे०स०प्र० पृ० १४५)

५. दे० सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ १४४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभापति (राजा) की योग्यता (गुण)

सब सभासदों में जो सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो, सभ्यगण उसको ही राजसभा का पति रूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें।[1] सभापति में निम्नलिखित गुण होने अपेक्षित हैं—

१. मनुष्य समुदाय में परम ऐश्वर्य एवं प्रशंसनीय गुण कर्म स्वभाव युक्त अर्थात् जिसका आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व भव्य हो जिसका सब आदर करें।

२. शत्रुओं को जीतने में समर्थ।

३. चक्रवर्ती राज्य तथा सर्वोत्तम शासन प्रबन्ध में सक्षम।

४. प्रजाजन जिसके पास जाने में न झिझकें तथा वह सबकी सहायता करने में सक्षम हो, जो सबका मित्र हो सके।

५. ज्ञान और धनों की जो वृद्धि कर सके।

६. पक्षपात-रहित एवं पूर्ण विद्याविनय युक्त।

७. सभापति होने योग्य अर्थात् सारी सभा का संरक्षण एवं संचालन करने में समर्थ।[2]

'इन्द्राऽनिल...' आदि पद्यों से दयानन्द ने सभाध्यक्ष (राजा) के उक्त गुणों का वर्णन आलंकारिक भाषा में किया है—'वह सभेश राजा इन्द्र विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्ता, वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने वाला यम, पक्षपात रहित न्यायाधीश के समान व्यवहार वाला, सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण अर्थात् दुष्टों को बाँधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्द देने वाला, धनाध्यक्ष के समान कोशों को पूर्ण करने में समर्थ होवे। सूर्य के समान प्रतापी, जिसे कड़ी दृष्टि से कोई देख न सके और जो अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक,

---

१. देखिए सत्यार्थप्रकाश पृ० १४१।

२. (क) इन्द्रो जयाति न पराजयातो अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेः ॥ अथर्व० ३।१०।९८।१।

(ख) इमन्देवा असपत्न सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥ यजु० ९।४०।

(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १३९, १४० तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन-वर्द्धक, दुष्टों का बन्धन-कर्ता एवं अत्यन्त ऐश्वर्यशाली हो वही सभाध्यक्ष (सभेश) होने के योग्य है।[1]

राज्य के अन्य घटक

(क) **समिति तथा सेना** तीन सभायें और उनका एक सभापति निर्वाचित करने के उपरान्त उन सभाओं के अन्तर्गत कुछ समितियाँ तथा सेना आदि का गठन करना चाहिए 'तं **सभा च समितिश्च सेना च** (अथर्व० १५।२।६।२)

(ख) मन्त्रीमण्डल (कैबिनेट) राजा को सभासदों में से ही सचिव (मंत्री) रखने का अधिकार है। किन्तु आवश्यकतानुसार यह संख्या घटाई बढ़ाई जा सकती है।[2] मन्त्री (१) स्वराज्य अथवा स्वदेश में उत्पन्न (२) वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता (३) शूरवीर (४) उच्च लक्ष्य वाले तथा (५) कुल आदि से सुपरिचित होने चाहिएँ।[3] मन्त्रीमन्डल से राजा प्रतिदिन निम्नलिखित विषयों पर परामर्श करे--(१) सन्धि (किसी राज्य से मित्रता) (२) विग्रह (किसी राज्य से विरोध) (३) स्थान (न मित्रता न विरोध, अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना) (४) समुदय (जब अपना उदय हो तब शत्रु पर आक्रमण) (४) गुप्ति (राज्य सेना व कोश की रक्षा) (६) लब्ध-प्रशमन (अधीनस्थ देश में शान्ति स्थापना)[4]। इस प्रकार यह मन्त्रिमण्डल विशेष रूप से देश की रक्षा व्यवस्था के निमित्त है। राजा को इन विषयों पर सबका विचार अथवा अभिप्राय सुन कर बहुपक्षानुसार कार्यों में लग जाना चाहिए।[5]

---

१. (क) इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेषयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
(ख) तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
(ग) सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ३॥ (स० पृ० १४ ।)

२. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥ (स० प्र० पृ० १४१)।

३. मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्ष्यान् कुशोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ (स०प्र० पृ०१४६)।

४. तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्य सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ (स० प्र० पृ० १४७

५. तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥ (स० प्र० पृ० १४७)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी

(क) मुख्य अधिकारी (१) राजा (२) मुख्य सेनापति (३) मुख्य राज्याधिकारी तथा मुख्यन्यायाधीश हैं। ये सभी वेदादि शास्त्रों में प्रवीण अपने-अपने विषय की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त धर्मात्मा तथा जितेन्द्रिय होने चाहिएं।[1]

इनके अतिरिक्त राजा जितने मनुष्यों से कार्य सिद्ध हो सके उतने आलस्य रहित, परिश्रमी, बलवान् (स्वस्थ) और कुशल व्यक्तियों को अधिकारी एवं कर्मचारी रूप में नियुक्त करे।[2]

किस प्रसार के व्यक्ति से किस प्रकार के कार्य करवाए जाएँ इसका भी निर्देश दयानन्द ने किया है—

(१) इनमें से महान् कार्यों में कुशल एवं सुपरिचित व्यक्तियों से तथा आन्तरिक कार्य में भी स्वभाव वाले व्यक्तियों से सम्पन्न कराए।[3]

(२) नित्य घूमने वाले सभापति, अधिकारी आदि के अधीन भिन्न-भिन्न जाति (और स्थानों के) अनेक गुप्तचर रहें। ये गुप्तचर प्रजा के गुण-दोष गुप्त रीति से जानकर दण्ड और प्रतिष्ठा दिलाएँ।[4]

(३) प्रजा की रक्षा का अधिकार धार्मिक सुपरिचित कुल के विद्वानों को तथा उनके अधीन कुछ शठ, चोरों और डाकुओं को भी नियुक्त करे ताकि वे प्रजा के दुष्ट कर्म बचाने में सहायक हों।[5] यहाँ **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** के सिद्धान्त के अनुसार दुष्टों को दुष्ट से समाप्त करने का उपाय निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ वस्तुतः राष्ट्र की एक अत्यन्त अनिवार्य समस्या पर प्रकाश डाला गया है। दुष्ट व्यक्ति से यदि योजनाबद्ध राज्योपयोगी कार्य न कराए गए तो वह स्वयं राज्य के लिए सिर दर्द बन जाएगा। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति पर

---

१. सैन्यापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ देखिए, स० प्र० पृ० १४३।

२. निवर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्त्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ देखिए, स० प्र० १४८

३. तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥ देखिए, स०प्र०पृ० १४८।

४. सताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयं।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥ देखिए, स० प्र० पृ० १५४।

५. राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ देखिए, स०प्र० पृ०१५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास करके उस पर कोई उत्तरदायित्त्वपूर्ण काम सौंपा जा सकता है। आजकल भी जेल आदि में हत्या के कैदियों को नम्बरदार आदि बनाकर उनसे अन्य कैदियों पर नियन्त्रण आदि रखने का कार्य सफलतापूर्वक लिया जाता है। इन लोगों से जेल से बाहर भी दुष्ट एवं अपराधी व्यक्तियों पर नज़र रखने, इन्हें ऐसा करने से रोकने एवं पकड़ने आदि में सहायता ली जा सकती है।

इस प्रसंग में महर्षि दयानन्द द्वारा २८ मई १८८३ शाहपुराधीश को लिखे पत्र का यह अंश उद्धरणीय है--राजा के मुख्य दो अंग हैं कि अच्छे काम करने वालों को पारितोषिक और बुरे काम के करने वाले को दण्ड देना।...नहीं तो राजाज्ञा को कुछ भी नहीं समझेंगे।[1] अगस्त १८८३ के पत्र में जोधपुराधीश को लिखा—स्वराज्य और परराज्य का जो चिकीर्षित और अच्छे बुरे काम होते है, उनको इन द्वारा यथावत् जानकर दुष्ट कार्यकर्ताओं को दण्ड और उत्तम कार्य करने वालों का सत्कार यथायोग्य कीजिए। जिससे उत्तम कार्य बढ़े और दुष्ट कर्म घट जाएं।[2]

दूत (राजदूत)

दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था में दूत का विशेष स्थान है। जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को तोड़-फोड़ दे वह दूत है। दूत शत्रुओं में फूट डालने में सक्षम होता है।[3] इनकी सहायता से राजा विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानकर कुशलता-पूर्वक राज्य में रक्षा समर्थ सिद्ध होता है।[4] इनमें निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं (१) सुपरिचित कुल में उत्पन्न, (२) चतुर, (३) पवित्र हृदय है जिसमें इतनी क्षमता हो कि वह किसी के भीतरी हृदय को जान सके तथा भविष्य में होने वाली घटना का अनुमान लगा सके, (४) शास्त्रों में विशारद (५) राजकार्य में उत्साही, (६) निष्कपटी, (७) बहुत समय की बात को न भूलने वाला, (८) देश और कालानुकूल कार्य करने में समर्थ, (९) सुन्दर रूप युक्त (अच्छा व्यक्तित्व, (१०) निर्भय, (११) महान्

१. देखिए, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ४२३।

२. वही पृ० ५५०।

३. इत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन शत्रवः॥ स० प्र० पृ० १४६।

४. बुद्ध्वा च सर्वन्तत्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्॥ स० प्र० पृ० १४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्ता ।[1] वह देश और जनता का हितैषी हो, न कि अपने पद के आधार पर स्वार्थ-सिद्धि का प्रयत्न करने वाला हो ।

कार्य-विभाजन

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि म० दयानन्द राज्यकार्य के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे—

(क) **तीनों सभाएं** अपने-अपने कार्य में स्वतन्त्र हैं अर्थात् विद्यासभा राष्ट्र की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था, राजार्यसभा राष्ट्र की सम्पूर्ण सुरक्षा-व्यवस्था तथा धर्मार्थ-सभा देश के धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था को देखती है और साथ ही मिलकर राज्य की उन्नति के लिए अनेक प्रकार के परामर्श देती है तथा नियम आदि बनाती है । उनमें समयानुकूल विधान बनाने के अधिकार है ।

(ख) **राजा** सभा द्वारा निर्मित विधानों को क्रियान्वित करता है । इस प्रकार वह कार्यपालिका का अध्यक्ष है ।...न्यायाधीश द्वारा निर्दिष्ट दण्ड आदि को भी राजा ही देता है । साथ ही राजा सेना का भी सर्वोपरि अध्यक्ष होता है । दण्ड को आन्तरिक और बाह्य आक्रमणों से वही बचाता है । उसकी दिनचर्या लिखते हुए वे कहते हैं कि 'मन्त्रियों से विचार कर सभा में जा सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल उनको हर्षित कर नाना प्रकार की व्यूह शिक्षा अर्थात् कवायद करा कर सब घोड़े, हाथी, गाय आदि स्थान, शस्त्र अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो उनमें खोट हो उनको निकाले ।[2] इनसे राजा का कार्य आसान होता है । राज्य का सम्पूर्ण कार्य उसी के अधीन है ।

(ग) **अमात्य** न्यायाधीश बनकर दण्डाधिकार रखता है । दण्ड में विनय अर्थात् जिससे अन्याय रूप दण्ड न हो सके ऐसी व्यवस्था करता है । इस प्रकार अमात्य न्यायपालिका का अध्यक्ष है ।

(घ) **दूत**—आधुनिक शब्दावली में दूत परराष्ट्र-मन्त्रालय का सम्पूर्ण

---

१. इतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।।
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ।। मनु०, स० प्र०पृ० १४७ ।

२. देखिए, स० प्र० पृ० १६५ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य देखता है। राष्ट्र से सन्धि तथा विरोध करने का परामर्श वही देता है।[१]

(ङ) **शासन-व्यवस्था तथा उनके लिए नियुक्त अधिकारी (ग्राम-राज्य)**—दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शासन-व्यवस्था में किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के शक्ति-सम्पन्न होने एवं अपनी मनमानी करने का कोई स्थान नहीं है। तीन सभाओं, अनेक समितियों आदि द्वारा शक्ति के विकेन्द्रीकरण करने के साथ देश के विविध भागों में सुचारु रूप से शासन चलाने के लिए ग्राम-राज्य एवं ग्राम-पंचायतों की योजना को तथा नगर-व्यवस्था की निम्नलिखित प्रकार से संचालित करना चाहिए—

(१) अनूप शहर में स्वामी जी ने कहा कि प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होनी चाहिए और कई ग्रामों के ऊपर एक न्याय सभा होनी चाहिए।[२]

(२) दो, तीन, पाँच और दस ग्रामों के बीच में एक राजस्थान रखके जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्यों के कार्यों को पूर्ण करे।[३]

(३) एक एक ग्राम में एक एक प्रधान पुरुष को रखे, उन्हीं दस ग्रामोंके ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवाँ पुरुष रखे। अर्थात जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दस ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाँच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार है।[४]

(४) एक एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों, उन उनको गुप्तता से दस ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दस ग्रामा-

---

१. अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ॥ देखिए, स० प्र० पृ० १४८।

२. देखिए, दयानन्ददिग्दर्शन, स्वामी ब्रह्ममुनिपरिव्राजक, पृ० ४५।

३. द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५३)

४. ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥
मनु० (देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

९५.४ 70132

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दस ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे। और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे। वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हज़ार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें। और बीस-बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र-सहस्र के दस अधिपति दस सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें।[1]

इस सम्पूर्ण वर्णन से दो बातें स्पष्ट हैं—(१) ग्रामपति द्वारा अपने से अधिक ग्रामों के पति को केवल दोष बताने का आदेश दिया है। अर्थात् जिन दोषों को वह स्वयं नहीं सुलझा पा रहा। उसकी सूचना ऊपर अवश्य दे दे अथवा परामर्श आदि लेकर उस दोष को दूर करने का प्रयत्न करें। (२) दोषों की सूचना नित्यप्रति दिया करे। इससे नियुक्त अधिकारी के अपने कर्तव्य के प्रति सजगता का बोध होता है।

महात्मा गाँधी ने दयानन्द से बहुत बाद में ग्राम-राज्य की कल्पना की। दयानन्द उनसे बहुत पहले इसकी स्थापना कर चुके थे। यदि हम दयानन्द द्वारा बताये गये ग्रामराज्य की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न करें तो हमारे देश का प्रजातन्त्र अत्यन्त सुदृढ़ हो जाएगा, और अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाएगा। यहाँ राजपुरुषों की नियुक्ति की बात की गयी है। आजकल की परिस्थितियों के अनुसार इनका चुनाव किया जा सकता है।

(५) ग्रामपतियों द्वारा बताए दोषों के निवारण के लिए दयानन्द का सुझाव है कि एक एक, दस दस, सहस्र ग्रामों पर दो सभापति हों, जिनमें एक राजसभा में और दूसरा आलस्य छोड़कर सब न्यायधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें।[2]

(६) ग्राम-व्यवस्था के अतिरिक्त नगर व्यवस्था के लिए बड़े-बड़े नगरों में एक एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल और

---

१. ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामशतशस्तु सहस्रपतये स्वयम्॥ देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५३

२. तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक् कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥
मनु०, देखिए, स०प्र० पृ० १५५

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चद्रमा सा उज्ज्वल घर बनावें। उसमें बड़े-बड़े विद्या वृद्धराज और प्रजा की उन्नति के लिए नियम बनाएँ।[1]

राज्य अथवा राजा के कार्य

राजा अथवा राज्य के कार्यों का निर्देश म० दयानन्द ने निम्नलिखित प्रकार से किया है—

(क) परमात्मा की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर-डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या का पालन और धर्म की रक्षा करने वाला हुआ हूँ।[2]

(ख) राजा को सेना, अश्व, गौ, यज्ञ, राज्य की वृद्धि, शूरवीरता, वेदादि शास्त्र-विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।[3]

(ग) राज्य-पुरुष की कल्पना करके उसके अंगों का वर्णन इस प्रकार किया है—(१) राज्य की उत्तमता उसकी पीठ है, (२) राज्य-सेना हस्त-मूल है, (३) कोश उदर के समान है, (४) प्रजा को सुखी करने का प्रयत्न कंठ और नाभि का अधोभाग स्थान है, (५) व्यापार अरत्नी है, (६) गणित विद्या ऊरु है, (७) प्रजा और राजसभा का मेल उसका जानु है।[4]

(घ) राजाओं की सेना और सभा के सदस्य (१) दुष्टों पर तेजधारी (२) श्रेष्ठों पर शान्त रूप (३) सुख-दुख को सहन करने वाले (४) धन के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी होने चाहिएँ।[5]

(ङ) (१) ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या से युक्त ब्राह्मण (२) न्याय-युक्त राज्य

---

१. नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥
मनु०, देखिए, स० प्र० पृ० १५६।

२. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २३० ऐ० ब्रा० ८।१९ के आधार पर

३. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२१ यजुर्वेद २०।१० के आधार पर

४. पृष्ठीर्मेराष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। उरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः। यजु० २०।८ (देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२०)

५. जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं।
मन्द्र ओजिष्ट इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम्॥ ऐ० ब्रा० ८।६।७
(देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और (३) दण्ड के भय के लिए क्षात्र अर्थात् पराक्रम राज्य के लिए आवश्यक हैं।[१]

(च) राज्य के लिए आवश्यक वस्तुएँ निम्नलिखित हैं—(क) शस्त्रास्त्र (२) धन-धान्य (३) वाहन (४) ब्राह्मण (पढ़ाने और उपदेश करने वाले) (५) शिल्पी (यंत्र, नाना प्रकार की कला) (६) चारा, घास, जल (७) सभी ऋतुओं के अनुकूल वृक्ष, पुष्प आदि।[२]

(छ) जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु-सहित नष्ट हो जाते हैं।[3]

(ज) पर्वत के शिखर, जंगल अथवा एकान्त घर में मन्त्री के साथ गुप्त मन्त्रणा करे। परोपकार के लिए अच्छे विचार को गुप्त रखने वाला धनहीन होने पर भी राज्य करने में समर्थ होता है।[४]

(झ) महर्षि दयानन्द ने उदयपुराधीश को जो विशेष नियम लिखे थे, उन में निम्नलिखित नियमों में राजा के कार्यों का उल्लेख है—

जैसे राजा कृषीवलादि प्रजा सुखी रहे वैसा कर प्रबन्ध प्रजा में करे। और उन्हीं कृषीवलादि की सब राज्य के सुख का मूल कारण समझ उनसे पितावत् बर्ते।

अपनी सत्ता शक्ति को यथासंभव बढ़ाता जावे। न्यून न होने देवे।

(ञ) सितम्बर १८७४ के अपने एक विज्ञापन में दयानन्द ने लिखा—ऐसा

---

१. ब्रह्म वैरथन्तरं क्षत्रं बृहद् ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म।
ऐ० ब्रा० ८।६।७ (देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २२७।

२. तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ मनु०, देखिए, स० प्र० पृ० १४६।

३. शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥

४. गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रसादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥
यस्य मंत्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥
मनु०, देखिए, स० प्र० पृ० १५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून राजा और प्रजा को चलाना और मानना चाहिए जिससे लूट, चोरी, परस्त्री-गमन और मिथ्या साक्षी और बालावस्था में विवाह और विद्या का लोप न होने पावे, फिर राजा और प्रजा उस कानून को धर्म माने और उस पर ही सब चलें। परन्तु ऐसा वह कानून होय जिससे लोक और परलोक दोनों शुद्ध होवें। वह कानून धर्म से कुछ भी विरुद्ध न होवे, क्योंकि धर्म नाम है न्याय का और न्याय नाम है पक्षपात का छोड़ना, उनका ज्ञान सब मनुष्यों को यथावत् होना चाहिए।[1]

राजा अथवा राज्य के कर्त्तव्यों-कर्मों के उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णनों के आधार पर राज्य के निम्नलिखित कर्त्तव्य (कार्य) निर्धारित किए जा सकते हैं—(१) ज्ञान की वृद्धि (समुचित शिक्षा-व्यवस्था एवं दुष्ट व्यसनों का नाश) (२) क्षात्र धर्म का विकास (राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से रक्षा) (३) धन-धान्य की वृद्धि (निर्धनता और रोग की परिसमाप्ति (४) सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था (दुष्टता एवं सामाजिक असमानता की परिसमाप्ति)।

राष्ट्र में इन चारों ही तत्त्वों की समान उन्नति की आवश्यकता है। जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग ये सब मिल कर राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से हो के सुख को प्राप्त होता है।[2] जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढ़ाए जाएं और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बल-वान् पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है, और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाए आत्मा का नहीं, तो भी राज्य-पालन की उत्तम व्यवस्था के सब आपस में ही फूट टूट विरोध लड़ाई झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जाए। इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार, व्यभिचार और अति विषयासक्ति है वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिए, क्योंकि जब वे विषयासक्त होंगे तो राज्य-धर्म ही नष्ट हो जाएगा।[3] राज्य

---

१. दे०, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३७८ तथा २२।

२. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ११७।

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का रक्षण ही राष्ट्र की शोभा अर्थात् श्रेष्ठ भाग है ।[1]

ब्रह्म और क्षत्र के अतिरिक्त राष्ट्र के लिए लक्ष्मी (धनधान्य) की अत्यन्त आवश्यकता है । श्री अर्थात् जो लक्ष्मी है वही राज्य का स्वरूप सामग्री और मध्य है ।[2] इसी प्रकार न्याय-व्यवस्था भी राष्ट्र के लिए सुदृढ़ होनी आवश्यक है । जो न्याय से राज्य का पालन करता है, वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहलाता है । घोड़े को मारकर उसके अंगों को होम करना अश्वमेध नहीं है ।[3] अपराधी को दण्ड और प्रत्येक के प्रति समान दृष्टि बिना सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था के असम्भव है इसलिए कहा गया है कि तू धर्मात्मा हो के न्याय से राज्य कर । अतः राजा को उक्त सभी तत्त्वों की समान उन्नति करनी चाहिए ।

जो राजा मोह से अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, (इन तत्त्वों में से किसी एक की भी प्रगति नहीं करता) वह राज्य अपने बन्धु-सहित जीने से पूर्व ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ।[4] इसलिए राजा और राजसभा राज-कार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों । जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसका सुख सदा बढ़ता है ।[5] राजा को चाहिए कि वह अपने आत्मा वा शरीर को राजा वा अधिकारी न समझे, किन्तु राजनीति ही को राजा और राज्याधिकारी कहे ।[6] रात दिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राज काम बिगड़ने न देना यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है । इस प्रकार राज-कार्यों के लिए उसे धार्मिक कर्म-काण्डों से भी छुट्टी दी गई है ।[8]

स्वा० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शासन-व्यवस्था के वर्णन के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) शासन-व्यवस्था का मुख्य आधार विकेन्द्रीकरण है । इसी विकेन्द्री-

---

१-२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २३३ ।

४. वही पृ० २२७ ।

५. **मोहाद्राजः स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।**
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥

मनु०, देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४ ।

६. **राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानामिदमाचरेत् ।**
सुसंग्रहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ मनु०, देखिए, स०प्र० पृ० १५४ ।

७. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७४ ।

८. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १४८ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करण के ही आधार पर सम्पूर्ण शासन-भार किसी एक व्यक्ति अथवा एक ही संस्था से अधीन न कर तीन सभाओं—विद्यार्य सभा (शिक्षा के लिए) राजार्य सभा (राज्य कार्य, रक्षा एवं धन आदि के लिए) तथा धर्मार्य सभा (धर्म एवं सामाजिक समानता के लिए) के अधीन किया है। ये तीनों मिलकर जहाँ सम्पूर्ण राजकार्य के लिए उत्तरदायी होंगीं वहाँ ये अपने अपने विषय में सर्वथा स्वतन्त्रता कार्य करेंगी। राजा (जो कि केवल सभापति है) केवल उन सभाओं द्वारा किए गये निर्णयों को क्रियान्वित करेगा। इस प्रकार कार्य-शक्ति प्रधान मन्त्री के पास न होकर सभापति के पास होगी। आधुनिक संसदीय प्रणाली में एक ही सभा (लोक अथवा राज्य सभा) शिक्षा, वित्त, रक्षा आदि सभी कामों को सम्पन्न कर लेती है। एक ही सभा अथवा उसके सभासद् सभी विषयों के विशेषज्ञ नहीं हो सकते। अतः उन सभासदों को तीन भागों में विभक्त कर, उन की जिस कार्य में रुचि हो—उन तीनों ही सभाओं को अपने विषय का पूर्ण अधिकार देकर कार्य का विभाजन करना चाहिए। इन सभाओं के अन्तर्गत भी कुछ समितियां बनानी अपेक्षित हैं।

(२) इन तीनों ही सभाओं के सभ्यों (सभासदों अथवा सदस्यों) का प्रजा चुनाव करती है। चुनाव में यह स्पष्ट होना चाहिए कि कौन सा उम्मीदवार किस विषय का विशेषज्ञ है, प्रजा प्रत्येक सभा में उस विषय के ही विशेषज्ञ को ही भेजेगी। ये तीनों सभाएँ पृथक् पृथक् रूप से अपने अध्यक्ष का चुनाव भी करेंगी तथा तीनों मिलकर एक सभापति रूप राजा का चुनाव भी करेंगी।

(३) म० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शासन-व्यवस्था के वर्णन से यह संकेत मिलता है कि देश के विभिन्न भागों में अलग अलग राज्य हों। उन्होंने एक राज्य की एक सभा में १० सदस्यों का वर्णन किया है, जिससे सूचित होता है कि वे वर्तमान प्रदेशों से भी छोटे राज्यों की कल्पना करते थे। इन अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग राज्य-व्यवस्थाएँ एवं राज्य (सभापति) आदि हों। उन सब राज्यों अथवा राजाओं के ऊपर एक चक्रवर्ती राज्य अथवा राजा होना चाहिए। चक्रवर्ती राजा सदा इस बात को देखे कि कहीं कोई राज्य प्रजा-विरोधी कार्य तो नहीं कर रहा। पर उसे राज्य की आन्तरिक नीतियों, प्रगति के तरीकों आदि में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।

जिस प्रकार आज हमारे देश में एक केन्द्र है और अनेक प्रदेश हैं, दयानन्द की शब्दावली में केन्द्र चक्रवर्ती राज्य है और प्रधान मन्त्री उनका राजा है। प्रदेश अनेक राज्य हैं और उनके मुख्यमन्त्री उसके राजा हैं। म० दयानन्द चाहते हैं कि केन्द्र के शासक यह तो देखें कि प्रदेशों में कहीं प्रजा के प्रति अन्याय तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो रहा ? पर उसे प्रदेशों की शासन-व्यवस्था में अनावश्यक रूप से दखल देने का अधिकार नहीं है। हर राज्य केन्द्र-सरकार की सहायता के बिना भी स्वतन्त्र रूप से उन्नति कर सके—यह स्वा० दयानन्द का आशय है। घोर संकट की स्थिति में तो केन्द्र-सरकार राज्यों की सहायता करेगी ही।

(४) राज्यों की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था भी दयानन्द केवल राज्य के एकाधिकार में रखने के पक्ष में नही थे। इसके लिए उन्होंने प्राय: राज्य व ग्राम-पंचायतों का सुझाव दिया है। इस प्रकार उन्होंने सत्ता को अधिक से अधिक फैलाया है।

(५) इन सभाओं में ब्रह्मचारी (विद्यार्थी), गृहस्थी (२५-५० वर्ष के) एवं वानप्रस्थी (५० से ७५ वर्ष के) तीनों प्रकार के लोगों का प्रतिनिधित्व कहा गया है। केवल वही वानप्रस्थी इन सभाओं के सदस्य होंगे, जो कि गृहस्थावस्था में भी सक्रिय रूप से इन सभाओं में कार्य करते रहे थे। विभिन्न पदों पर (राजा पद पर भी) केवल ५० वर्ष तक की आयु तक व्यक्ति ही रह सकेगा। दयानन्द अपने प्रजातन्त्र में निरंकुश शासन के सदा विरोधी रहे हैं।[1]

(६) यहाँ इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि म० दयानन्द की कल्पना में विश्व सरकार या विश्व शासन-व्यवस्था की स्पष्ट कल्पना थी। वे लिखते हैं—"...और वे सब राजसभा अर्थात् चक्रवर्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।[2]

१. विस्तार के लिए देखिए 'हमारी समाज-व्यवस्था' पुस्तक तथा प्रस्तुत पुस्तक में 'अर्थव्यवस्था' शीर्षक लेख में 'असीमित उपभोग' उपशीर्षक।
२. दे०, स० प्र० पृष्ठ १५५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ | शासक और शासित

शासक-वर्ग केवल भृत्य है

महर्षि दयानन्द की तथा संसार के अधिकांश मनुष्यों की यह निश्चित धारणा है कि इस सृष्टि का निर्माण परमात्मा ने किया है। अतः इस सृष्टि का अथवा संसार और संसार में स्थित राष्ट्रों का वास्तविक राजा वही परमेश्वर है। परमात्मा द्वारा की गयी व्यवस्था में अग्नि, जल, वायु आदि सब वस्तुएँ सबको समान-रूप से उपलब्ध होती हैं। सबके समान अधिकार हैं। किंतु परमात्मा ने अपनी इस सृष्टि में मनुष्यों में स्वतन्त्र कर्तृत्व की शक्ति दी है। इसके दुरुपयोग से मनुष्य-समाज में भेद पैदा हुआ है। भेद उत्पन्न हो जाने के उपरान्त बुद्धिमान् ने मूर्ख को, शक्ति-सम्पन्न ने निर्बल को तथा धनी ने निर्धन को अपना शिकार बनाकर मनुष्य के अधिकारों में भेद पैदा कर दिया है।

अधिकारों के इस वैषम्य के ही कारण भिन्न-भिन्न देश बने, परस्पर मतभेद आदि उत्पन्न हुए। तब राज्यव्यवस्था की स्थापना आवश्यक प्रतीत हुई। ये राजा एवं राज्य-व्यवस्था वस्तुतः परमात्मा द्वारा दिये समान अधिकारों को स्थित रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे वस्तुतः परमात्मा का ही काम करते हैं। दयानन्द का कथन है कि राजा तथा राजपुरुष यही समझें कि 'वं प्रजापतेः प्रजा अभूय।" (यजुर्वेद)—हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।[1] एक अन्य स्थल पर म०दयानन्द ने राजा से कहलाया है कि 'हे परमेश्वर, आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें।[2]

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७७।

२. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि राजा परमेश्वर का प्रतिनिधि अथवा दूत आदि कुछ नहीं है, केवल परमात्मा का नौकर है। जो उसकी प्रजा के लिए कार्य करता है। प्रजातन्त्र की आधुनिक व्याख्या में भी शासक को प्रजा का नौकर ही माना गया है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य उसी एक ईश्वर का पुत्र है। अतः राजा उसकी सेवा करके वस्तुतः अपने स्थायी परमेश्वर को ही प्रसन्न करता है। उसका ही कार्य सम्पन्न करता है।

राजा (समग्रराज्य व्यवस्था) और प्रजा (शासक और शासित)

पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार शासक और शासित में परस्पर एक 'ठेका' होता है। व्यक्ति शासक को शक्ति-सम्पन्न बनाता है और शासक उसके अधिकारों की रक्षा करता है। उसी ठेके के अनुसार दोनों अपने कर्तव्य और अधिकार करने के लिए बाध्य हैं। किन्तु ठेका शब्द व्यापारिक क्षेत्र का शब्द है। जनता और शासक में थोक व्यापारी और खुदरा दुकानदार का अथवा दुकानदार और ग्राहक का सा सम्बन्ध कल्पित किया गया है। जहाँ पति और पत्नी के सम्बन्ध को भी 'ठेका' माना गया हो,[1] वहाँ शासक और शासित में भी इस प्रकार के ठेके की कल्पना स्वाभाविक है। किन्तु ठेके में दोनों के परस्पर सम्बन्ध का आधार स्वार्थ होता है। जब तक दोनों एक दूसरे का स्वार्थ पूरा करते रहते हैं तब तक दोनों का सम्बन्ध मधुर बना रहता है। स्वार्थ के टकराते ही दोनों में वैमनस्य प्रारम्भ हो जाता है। म० दयानन्द ने प्रजा और राजा में परस्पर ठेका न मानकर दोनों में पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित करने का निर्देश दिया है—

(क) सभापति रूप राजा (जो सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था का प्रतिनिधि है। प्रजा से पिता के समान बर्ते—**वर्तेत पितृवन्नृषु**।[2] इस प्रसंग में व्यवहारभानु में म० दयानन्द द्वारा राजा एवं प्रजा की दी गयी परिभाषाएँ उल्लेखनीय हैं। जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान पूज्य के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता और सबको सुख से युक्त करता है, वह राजा कहाता है। जैसे पुत्रादि मन, मन, धन से अपने माता-पिता आदि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न

---

१. देखिए, लेखक की पुस्तक 'वैदिक साहित्य में नारी' में 'अपना वक्तव्य' अध्याय पृ० १५८।

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखते हैं वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों में पदार्थों को सिद्ध करके राजसभा को 'कर' देकर और जो प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है। किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिए, क्योंकि दोनों धार्मिक हो के एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्तमान हो तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है।[1]

महर्षि दयानन्द की स्पष्ट घोषणा है कि राजा प्रजा को सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि 'किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? और राजा न हो तो प्रजा किस की कहावे।[2]

(ख) राजा अपनी प्रजा और सेना की सेवा एक गुरु की भाँति करे : **उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा।** (मनु०)। प्रजा और सेना के बल पर ही वह शत्रु के आक्रमण को रोकता है।[3] जिस प्रकार गुरु की प्रतिष्ठा का आधार उसका योग्य शिष्य है, उसी प्रकार राजा की सेना और उसकी प्रजा भी उसकी प्रतिष्ठा का मूलाधार है। अतः उसकी उन्नति उसे गुरु की भाँति करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रजापालन ही राजा का परम धर्म है।[4] म० दयानन्द

---

१. देखिए, दयानन्द लघु-ग्रंथ-संग्रह, पृ० ३२८। 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में भी इसी प्रकार की परिभाषाएँ हैं—**राजा** उसी को कहते हैं जो शुभ गुण कर्म, स्वभाव, से प्रकाशमान, पक्षपातरहित, न्याय धर्म का सेवी, प्रजाओं से पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत् मानके उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न करे। **प्रजा** उसको कहते हैं जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके, पक्षपात-रहित न्यायधर्म के सेवन से राजा प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राज-विद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६६।

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०।

४. **क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। मनु०**

(देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं कि राजा प्रमाद-रहित होकर सब कर्त्तव्यों को पूरा करके प्रजा की रक्षा करे।[1] सप्ताह में एक दिन पीड़ित प्रजा की शिकायतें अवश्य सुने। प्रजा के सुख के लिए तन मन धन से प्रयत्न किया करे।[2]

शासक का विशेष दायित्व

राजा अथवा शासक को पिता और गुरु तुल्य मान लेने पर राज्य का कुछ विशेष दायित्व प्रकट होता है। म० दयानन्द कहते हैं कि यथा राजा तथा प्रजा' जैसा राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है, इसलिए राजा और राज-पुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से वर्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।[3]

म० दयानन्द ने उदयपुर के महाराणा के लिए जो विशेष नियम लिखे थे, उनमें इक्यावनवाँ नियम था—यह निश्चय है कि जैसा शीलाचरण, उत्साह और पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है, वैसा ही इतर जन बर्तते हैं। इसलिए प्रधान पुरुषों को अत्यावश्यक है कि सदा अधर्म युक्त कर्मों को छोड़कर न्याय-रूप धर्म कृत्यों में बर्ता करें। क्योंकि जो-जो धर्म वा अधर्म प्रधान पुरुष दृष्टान्त से इतर जनों में प्रवर्तमान होता है, उसका मुख्य निमित्त प्रधान होकर फल-भागी होता है, इसलिए मुख्य पुरुषों को बहुत विचार से बर्तना चाहिए।[4] दयानन्द ने जुलाई १८८३ में जोधपुराधीश को भी लिखा—**प्रधानप्रधानयोः कार्य्ये संप्रत्ययः** (महाभाष्य) भलाई और बुराई प्रधान पुरुष के साथ लगती है, गौण अर्थात् अप्रधान के साथ नहीं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ गीता ३।२१

जैसा अच्छा वा बुरा आचरण श्रेष्ठ पुरुष करता है, वैसा ही इतर जन करने लगते हैं, अर्थात् यथा राजा तथा प्रजा—जैसा राजा होता है, वैसी ही

---

१. **एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः।**
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५७)

२. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७१। उदयपुर के महाराणा के लिए दिनचर्या के नियम।

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७७।

४. देखिए, ऋषि दयानन्द सरस्वती पत्र और विज्ञापन पृ० ३७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजा होती है।[१]

इस प्रकार राजा को अपने कर्त्तव्य कर्म के प्रति म० दयानन्द बहुत अधिक सजग करते हैं। राजा (शासक) अपने कर्त्तव्य के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् रहे, इसके लिए म० दयानन्द ने यह आवश्यक समझा है कि वह अपने पास दुर्गुणों को न फटकने दे। दुर्गुणों का समावेश कुसगति से होता है। कुछ चाटुकार लोग अपनी चाटुकारिता से राजा को ग़लत मार्ग पर प्रवृत्त कर देते हैं। अपने ग्रन्थ व्यवहारभानु में इन्होंने 'अन्धेर नगरी, गवर्गण्ड राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' का दृष्टान्त देकर चाटुकारों से घिरे राजा की दुर्गति दिखलायी है।[२]

चाटुकारों से सावधान करते हुए जुलाई १८८३ को दयानन्द ने जोधपुराधीश को लिखा था—

पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

[हे धृतराष्ट्र, इस जगत् में बहुत पुरुष सुलभ अर्थात् सुख से प्राप्त होते हैं जो सदा दूसरे की खुशामद की बातें करके अपना मतलब सिद्ध करते हैं। परन्तु सुनने में अप्रिय और परिणाम में कल्याणकारी वचन का उपदेष्टा और श्रोता दोनों अति दुर्लभ हैं।][३] आगे फिर लिखा—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्द यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ गीता १८।३८

[जो विषय और इन्द्रियों के संयोग से आदि में अमृत रूप सुख प्रतीत होता है, वही परिणाम अर्थात् पश्चात् विष के तुल्य होकर महादुःख दायक हो जाता है]। आदि उद्धरण देकर कहा कि यदि आप मद्यपान, वेश्या-संग, पतंग उड़ाना, घुड़दौड़ आदि द्यूत नहीं छोड़ते और राज्य-पालन-कार्य में कम से कम ६ घंटा परिश्रम और महालक्ष्मी रूप राजकन्या स्वपत्नियों से अधिक प्रेम नहीं करते हैं, इत्यादि शोचनीय बातें आप में हैं। आप निश्चय समझिये कि जितने आपके अधीन पुरुष कीर्ति वा निन्दा का काम करेंगे, वह सब आपकी ही पर गिने जाएँगे। यदि आप स्वयं मद्यपानादि में प्रवृत्त न हों तो क्या कोई भी इनमें आपको प्रवृत्त करा सकता है। जो स्वार्थी खुशामदी हैं वे तो सदा यही चाहते हैं कि राजा

---

१. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४४४।
२. देखिए, दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह, पृ० ३२९।
३ देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाद में लगें तो हमारे सब प्रयोजन सिद्ध हो जाएँ।[१]

५ अगस्त, १ ८३ के पत्र में श्री बहराट किसन जी को जोधपुराधीश के विषय में फिर लिखा—'अब तक मद्यपान, वेश्या-संग, खेल, हंसी, ठट्ठा, छुकरपन संपूर्ण नहीं छूटे हैं। परमेश्वर अन्तर्यामी पूर्ण कृपा करें। जिससे ये महाशय अपने राजधर्म में प्रवृत्त हो प्रजा को पुत्रवत् न्याय से पालन कर कीर्तिमान् होवें।[२]

८ सितम्बर, १८८३ की जोधपुराधीश से 'गुप्त समाचार' में लिखा—एक वेश्या से जो कि तन्नी कहाती है, उससे प्रेम, उसका अधिक संग और पत्नियों से न्यून प्रेम रखना आप जैसे महाराजों को सर्वथा अयोग्य है। इसी पत्र में आपने फिर लिखा—वेश्या-संग आदि में आप अपने अमूल्य समय को मत खोवें। आपका शरीर ऐसे क्षुद्र काम और विषयासक्ति आराम के लिए नहीं है। किन्तु बड़े परिश्रम न्याय पुरुषार्थ में लाखों मनुष्यों के हितार्थ आप लोगों का शरीर है।[३]

इस प्रकार दयानन्द ने दो बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया—(१) खुशामदी एवं दुर्व्यसनी लोगों से शासक का बचाव एवं (२) राजा का मद्यपान, वेश्यावृत्ति आदि दुर्व्यसनों से परे रहना। जोधपुराधीश को ही उन्होंने लिखा था—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ गीता १८।३७

जो ब्रह्मचर्य आदि कर्मों का आचरण आदि में विषवत् दुःख प्रतीत होता है वही पश्चात् अमृत के सदृश विदित होता है। वही आत्मा और बुद्धि को प्रसन्न करने वाला सुख है कि जो विद्या, सुविचार, सत्संग और योगाभ्यासादि उत्तम कार्यों से प्राप्त होता है।[४]

म० दयानन्द ने राजा के गुणों का विकास करने के लिए नियमित जीवन, सतुलित एवं पौष्टिक आहार, अग्निहोत्र, व्यायाम, पारिवारिक जीवन की पवित्रता आदि बातों पर बल दिया है।[५] इनमें अग्निहोत्र एवं धार्मिक कृत्य

---

१. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४४३।
२. वही, पृ० ४४७।
३. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४६४।
४. वही, पृ० ४४४।
५. (क) देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५८, १६५।
(ख) देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कर्मकाण्ड) राजा अथवा शासक तभी करे जब उसके पास समय हो। वस्तुतः लोक-संग्रह में प्रवृत्त रहना ही अपना अग्निहोत्र है।

विचार-स्वतन्त्रता, जनमतसंग्रह व राजाज्ञा

महर्षि दयानन्द विचार-स्वतन्त्रता को विशेष महत्त्व देते थे। यदि व्यक्ति के विचार देश की निष्ठा के विरुद्ध नहीं हैं, तो उन्हें व्यक्त करने का उसे निर्बाध अधिकार है। महर्षि दयानन्द भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आधिपत्य को देखकर अत्यन्त चिन्तित थे, उसकी निन्दा भी किया करते थे।[1] किन्तु उन्होंने श्रीमती ब्लेवत्स्की को लिखे अपने २३ नवम्बर १८८० के पत्र में ब्रिटिश सरकार का इस बात के लिए धन्यवाद किया है कि उसने उन्हें विचार स्वतन्त्रता प्रदान की है—मैं व अन्य सज्जन लोग अपना अपना सत्य अभिप्राय-युक्त पुस्तक रचने, उपदेश करने और धर्म से स्वाधीनपन से आनन्द में प्रवृत्त हो रहे हैं। क्या जो श्रीयुत भारतेश्वरी महारानी पार्लियामेण्ट सभा और आर्यावर्त देशस्थ राज्याधिकारी धार्मिक विद्वान् व सुशीला न होते तो क्या मेरा व अन्य का मुख प्रफुल्लित होकर व्याख्यान, वेदमत, प्रचारक पुस्तकों की व्याख्या करनी भी दुर्लभ न होती, और आज तक शरीर भी बचना कठिन न था, इसलिए पूर्वोक्त महात्माओं को हम लोग धन्यवाद देते हैं।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि म० दयानन्द राज्य-व्यवस्था में विचार-स्वतन्त्रता को विशेष महत्त्व देते थे। वस्तुतः, हमारे देश का इतिहास ही इस प्रकार का रहा है, किसी भी व्यक्ति को राजदरबार में पहुँचकर अपना विचार व्यक्त करने में बाधा नहीं रही। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय, धार्मिक मत अपनाने में स्वतन्त्र रहा है।

सामान्यतः सामयिक नियम उपनियम पूर्वोक्त समाज (सभाएं) और वेदादि शास्त्र से निश्चित करें।[3] किन्तु इन नियमों के बनाने में जनता की राय भी आवश्यक है। प्रजा के मत को दयानन्द ने इतना महत्त्व दिया कि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने जनमत-संग्रह का भी परामर्श दिया है। उदयपुर के महाराणा की दिनचर्या के नियमों में उन्होंने लिखा है—सब काम धार्मिक सभ्यों के

---

१. देखिए, प्रस्तुत पुस्तक में 'देश की उन्नति व स्वतन्त्रता का प्रेरक' शार्षक लेख।

२. देखिए, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० २५७।

३. देखिए, वही पृ० २७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुपक्षानुसार नियत करे, किन्तु वह आज्ञा जो कि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सबमें प्रजा की सम्मति लेवे और सर्वत्र प्रसिद्ध करके गुण दोष समझें। पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोष-युक्तों का त्याग करे।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि कभी-कभी किन्हीं विशिष्ट विवादास्पद विषयों पर जिनका सम्बन्ध सीधा जनता से हो, जनमत-संग्रह आवश्यक है।

इस प्रकार राजा (सभापति) तीनों सभाओं के सभासदों, मन्त्रियों, अधिकारियों और आवश्यकता पड़ने पर प्रजा के सामान्य जन के परामर्श से ही सब कार्य करता है। अत: म० दयानन्द की व्यवस्था है कि जो जो आज्ञा इन समाजों (सभाओं) से निश्चित होकर प्रचारित की जाए, उनका उल्लंघन कोई भी न करे। यदि करे तो वह सबका अमाननीय और दण्डनीय हो।[2] राज्य की उन्नति एवं व्यवस्था के लिए राजा जो आज्ञा देता है, वह सभी सभासदों, मन्त्रियों एवं अधिकारियों के परामर्श से देने का वह अधिकारी है। उसे सब प्रयत्न से विचार कर सर्वहित की दृष्टि से ही आज्ञा देनी चाहिए। उसकी अवज्ञा करने का किसी को भी अधिकार नहीं है।

म० दयानन्द का स्पष्ट मत है कि अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें, चाहे कोई कैसा ही सम्बन्धी व मित्र क्यों न हो, परन्तु जब राजाज्ञा भंग व उसमें आलस्य करे तब वह शत्रुवत् दण्डनीय हो।[3] जब राजा ने अपने राज्य के सभी घटकों के परामर्श से यह आदेश दिया है तो उसको टालने का अर्थ देश का अहित है।

राजा (सभापति) का आदेश प्रजा की इच्छाओं का दूसरा रूप है। राजा की अवज्ञा वस्तुतः प्रजा की इच्छाओं की अवहेलना है। अतः म० दयानन्द का कहना है कि जो राजासन पर नियत हो उसका किंचित् भी अपमान कोई मन, कर्म, वचन से न करे। किन्तु जो जिस पर प्रधान हो चाहे उससे अप्रधान किसी गुण में अधिक भी क्यों न हो तथापि परमेश्वर से द्वितीय स्थान में माननीय राजा और स्वामीवत् माननीय अपने-अपने प्रधान को मानें।[4] यहाँ राजा के साथ अपने प्रधान अर्थात् अधिकारी के आदेश का पालन करने के लिए भी कहा गया है। राष्ट्र के अनुशासन के लिए अपने अधिकारी के आदेश का बिना

---

१. देखिए, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७३।
२. देखिए वही, पृ० ३७४ (४८वाँ नियम)।
३. वही, (४३वाँ नियम)।
४. देखिए, दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७४ (४२वाँ नियम)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोचे समझे पालन करना अनिवार्य है। शर्त केवल एक है कि अधिकारी ने पहले अपने सभी घटकों से परामर्श ले लिया हो, एवं प्रजा की इच्छा जान ली हो, और उसका यह आदेश राज्यहित एवं मानवता के लिए उपयोगी हो।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दोनों (शासक और शासित) अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले युए प्रीति-युक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्पत्ति के विरुद्ध राजा व राजापुरुष न हों राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले।[1] दोनों एक दूसरे का सम्मान करें। म० दयानंद ने राजा व राजपुरुषों के लिए भी विशेष रूप से कहा है कि ये सभी सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कर्मों में अर्थात् जो जो निज के (व्यक्तिगत) काम हैं उन उन में स्वतन्त्र रहें।[2]

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६६।
२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ | रक्षा-व्यवस्था

हम पहले अध्याय में देख चुके हैं कि राजा अथवा राज्य के कार्यों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य देश की व्यवस्था है। आन्तरिक और बाह्य दोनों ही शत्रुओं से देश की रक्षा व्यवस्था करनी होती है। म० दयानन्द ने देश की सुरक्षा-व्यवस्था पर विशेष बल दिया है। इस अध्याय में हम दोनों—आन्तरिक और बाह्य—रक्षा-व्यवस्थाओं का अध्ययन करेंगे।

(क) आन्तरिक सुरक्षा-व्यवस्था

म० दयानन्द ने देश की आन्तरिक सुरक्षा के लिए बहुत बल दिया है। उनके निम्नलिखित कथन उनकी इस भावना को प्रकट कर देते हैं—

—सुपरिचित दूत द्वारा राज्य और राजपुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा से अपने को अभिज्ञ रखे। जिस-जिस यत्न से उनकी कुचेष्टा छूटे और सुचेष्टा बढ़े, वैसा यत्न सदा किया करे।[1]

—किसी धर्मात्मा से विरोध व लड़ाई करना न चाहे और दुष्ट से विरोध व लड़ाई निःशंक करे।[2]

—जैसे धान्य का निकालने वाला छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता और टूटने नहीं देता है। वैसे राजा डाकू चोरों को मारे और राज्य की रक्षा करे।[3]

—जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगमन, न दुष्ट वचन को

---

१. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३७२ (२७वाँ नियम)।

२. वही (३१वाँ नियम)

३. यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोलने वाला, न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करने वाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है। स्पष्टतः इन दोषों को दूर करने के लिए राजा को इन्हें दण्डित करने का प्रयत्न करना चाहिए।[१]

इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा को आन्तरिक खतरों से सदा सावधान रहना चाहिए। पर म० दयानन्द के इन कथनों में देश को चोर डाकुओं आदि से बचाने का संकल्प तो है, पर उसके लिए उनके कर्मचारी (भृत्य) किस प्रकार से कार्य करें, इसका उल्लेख नहीं है। पर इनसे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके लिए भी सुदृढ़ व्यवस्था हो। म० दयानन्द लिखते हैं—'जिस भृत्य सहित देखने हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग, रोती, विलाप करती, प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं वह जानों भृत्य अमात्य-सहित मृतक है, जीता नहीं और महादुःख को पाने वाला है।[२]

म० दयानन्द के उद्धरणों के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि देश में विद्यमान दुष्ट-प्रकृति के मनुष्यों से निपटने के लिए पुलिस को आधुनिकतम उपकरणों से सज्जित होना चाहिए। यदि राज्य में दुष्टों की संख्या बढ़ गई, तो राज्य के ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का भय है।

म० दयानन्द का कहना है—'जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता हैं।[३] अतः राज्य में जो परिपंथी अर्थात् डाकू लुटेरे हों उनको (साम) मिला लेना (दाम) कुछ देकर (भेद) तोड़ फोड़ करके वश में करे, और जो इनसे वश में न हों, तो अति कठिन दंड से वश में करे।[४]

---

१. यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदंडघ्नो स राजा शक्रलोकभाक्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १७४)।

२. विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रा ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५७)।

३. देखिए सत्यार्थप्रकाश, १४०।

४. एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) बाह्य सुरक्षा-व्यवस्था

बाह्य सुरक्षा व्यवस्था को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अन्य देशों से हमारा सम्बन्ध, (२) शत्रु-देशों से अपनी सुरक्षा। अन्य देशों से सम्बन्ध का कार्य आजकल परराष्ट्र मन्त्रालय के तथा शत्रु-देशों से अपनी सुरक्षा का कार्य रक्षा-मन्त्रालय के अधीन है। यहाँ हम ऋषि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत इन दोनों मन्त्रालयों के कार्य का अध्ययन करेंगे।

(१) अन्य देशों से सम्बन्ध

राष्ट्रों में परस्पर मित्रता, उदासीनता एवं शत्रुता ये तीन भाव होते हैं। नीतिज्ञ राजा सदा इस प्रकार का उपाय करे कि उसके मित्र, शत्रु और उदासीन बहुत अधिक न हों।[1] सामान्यतः सभी राष्ट्रों से समभाव रहे। गुट-निरपेक्षता में यही भावना है। पर क्योंकि राष्ट्रों में सदा परस्पर समभाव बना ही रहे, यह अत्यन्त कठिन काम है, अतः निम्नलिखित गुणों से युक्त राष्ट्र (अथवा उस राष्ट्र के नायक) को मित्र बना कर लाभान्वित हो—

—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता, जैसा निश्छल, प्रेमयुक्त, भविष्य की बातों को सोचने और कार्य सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को प्राप्त होकर बढ़ता है।[2]

—मित्र भले ही छोटा (कम सामर्थ्य वाला) हो, किन्तु यदि वह धर्म को जानने वाला और कृतज्ञ अर्थात् किए गए उपकार को सदा मानने वाला, प्रसन्न-स्वभाव, अनुरागी और स्थिरारम्भी हो तो उसे प्राप्त कर वह प्रशंसित होता है।[3]

---

१. सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६१)।

२. हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६५)।

३. धर्मज्ञं कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, ज्ञाता, कृतज्ञ, धैर्यवान् पुरुष (राष्ट्र) को शत्रु बनाने से दुःख होता है।[1] अर्थात् इन गुणों से युक्त राष्ट्र को मित्र बनाए।

—किन्तु जो राष्ट्र उक्त सभी प्रशंसित गुणों से युक्त हो, उसे अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान हो, उसमें शूरवीरता और करुणा आदि गुण हों—पर उसका लक्ष्य स्थूल (बाह्य) हो, उससे उदासीन होकर रहे, शत्रुता कभी न करे।[2]

जो गुण मित्र राष्ट्र के हैं, उनसे विपरीत लक्षण जिस राष्ट्र में हों, उससे समभाव के साथ रहना कठिन होता है, उदासीन भी नहीं रहा जाता, वह दुष्ट बुद्धि और दुष्ट वृत्ति का होने से कारण अकारण ही शत्रु हो जाता है। अपनी सीमाओं को बढ़ाने को दुर्लालसा तथा कभी अपने मिथ्या अहं की पूर्ति के लिए किसी भी राष्ट्र। प्रायः पड़ौसी से युद्ध छेड़ने के लिए उतारू रहता है, उससे राष्ट्र नायक को सावधान रहने की बहुत आवश्यकता है। म० दयानन्द लिखते हैं—**यथा योधषु वर्तमानो जयः पराजयश्च राजनि व्यपदिष्यते।** (महाभाष्य) अर्थात् सेना की हार व जीत राजा की हार और जीत मानी जाती है।[3] अतः उसे इन खतरों से सावधान रहने की विशेष आवश्यकता है। शत्रु राष्ट्र से निम्नलिखित नीति के अनुसार व्यवहार करना चाहिए=

(क) **सन्धि**—शत्रु होने का अर्थ यह नहीं है कि सदा उससे विरोध ही रहे। सामान्यतः उसके साथ भी व्यवहार में समभाव रहना चाहिए। शत्रु से मेल अथवा विपरीतता—दोनों ही स्थितियों में यह ध्यान रखे कि वर्तमान और भविष्य में करने के काम बराबर करता जाए। अपने व्यवहार में कोई अन्तर न लाए।[4]

---

१. **प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।**
कृतज्ञं धृतिमंतञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६५)।

२. **आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।**
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः॥ मनु०
(दे० सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६५)

३. देखिए : ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४४३।

४. **समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।**
तथा त्वायति संयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) **विग्रह**—किन्तु स्वयं अपने प्रति अथवा अपने मित्र के प्रति शत्रु-राष्ट्र द्वारा अपराध करने पर कार्यसिद्धि के लिए उचित समय व अनुचित समय में शत्रु के साथ विरोध प्रकट करे।[1]

(ग) **यान**—अकस्मात् कोई कार्य आ जाने पर एकाकी अथवा मित्र के साथ मिलकर शत्रु के पास अवश्य जाए।[2]

(घ) **आसन**—स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण (निर्बल) हो जाने पर अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठा रहे, शत्रु के साथ विरोध का व्यवहार न करे, और न कोई उससे सम्बन्ध रखे।[3]

(ङ) **द्वैध**—कार्य-सिद्धि के लिए सेनापति और सेना के दो (या दो से अधिक) विभाग करके शत्रु पर विजय कर ले।[4]

(च) **आश्रय**—किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा का शरण लेकर बलवान् शत्रु से अपना बचाव करे।[5] सामान्यतः, शत्रु से व्यवहार के यही नियम हैं।

शत्रु-देशों से अपनी सुरक्षा (युद्ध की अनिवार्यता)

उपर्युक्त विवेचन से यह सूचित होता है कि अनेक बार युद्ध अपरिहार्य होता है। शत्रु-राष्ट्र के साथ मित्रता व सद् व्यवहार तथा समझौते आदि के

---

१. **स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।**
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)।

२. **एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।**
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)।

३. **क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।**
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)।

४. **बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।**
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०)।

५. **अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानः स शत्रुभिः।**
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)।

Gurukul Kangri Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब प्रयत्न, सब द्वार बन्द हो जाते हैं। दुष्ट राष्ट्र अपने दुष्ट व्यवहार को छोड़ नहीं पाता। कभी साम्राज्यवादी वृत्ति के कारण अपने राज्य-विस्तार की कामना से पड़ौसी राष्ट्र के साथ छेड़खानी करता है। कभी किसी सामान्य विषय पर उत्पन्न विरोध को शान्त करने के लिए अहंकारवश युद्ध छेड़ बैठता है। कभी वह किसी व्यापारिक विवाद अथवा किसी अन्तःराष्ट्रीय विषय पर दबाव डालने के लिए आक्रमण कर देता है। ऐसी स्थिति में युद्ध की चुनौती को स्वीकार करना अनिवार्य है।

युद्ध के सिद्धान्त

क्लॉजविज ने सात और फील्ड मार्शल मॉण्टगुमरी ने तीन और जोड़ कर युद्ध के १० सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। आधुनिक युद्ध-सिद्धान्तों में यही १० सिद्धान्त मान्य हैं। वे दस सिद्धान्त हैं : (१) युद्ध के उद्देश्य का निर्धारण और उस पर दृढ़ता (२) अप्रत्याशित एवं अचानक कार्यविधि (३) शक्ति का उचित केन्द्रीयकरण (उपयोग) (४) शक्ति की मितव्ययिता (५) सुरक्षा (६) लचीलापन (७) सहकारिता (८) आक्रामक कार्यवाही (९) मनोबल (१०) कुशल-प्रशासन। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत युद्ध-सिद्धान्तों का अध्ययन हम इन्हीं दस सिद्धान्तों के आधार पर ही करेंगे।

१. युद्ध के उद्देश्य का निर्धारण और उस की दृढ़ता (सिलेक्शन एण्ड मैन्टेनेन्स ऑफ़ वार)

यद्यपि युद्ध एक शत्रु का उन्माद मात्र है, पर उस उन्माद को नष्ट करने के लिए युद्ध का करना देश अथवा राज्य के लिए हितकर है। म० दयानन्द ने परमात्मा के दयालु और न्यायकारी दोनों विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का विरोध दूर करने के लिए जो तर्क दिया है, वही युद्ध के पक्ष में भी दिया जा सकता है—'न्याय और दया का नाम मात्र ही भेद है। क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से दण्ड देने का प्रयोजन है। मनुष्य अपराध करने से वन्ध होकर दुःखों को प्राप्त न हों वही दया कहाती है अर्थात् पराये दुःखों का छुड़ाना। दया और न्याय का यह अर्थ कि न्याय में अपराधी को दण्ड और दया में अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना ठीक नहीं। जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाए, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है, जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना। डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।[1] इसी प्रकार उन्मत्त राष्ट्र का उन्माद तो युद्ध में उसे हरा कर ही दूर किया जा सकता है। इससे मानव-जाति का कल्याण ही होता है।

म० दयानन्द ने युद्ध का एक अन्य प्रयोजन (लाभ) इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—यहाँ इस बात को जानना चाहिए कि जो राजा को युद्ध करना है वही उसका बल होता है। उसके बिना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती, क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम महाधन है सो उसको महाधन इस लिये कहते हैं उससे बड़े-बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि बिना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता।[2]

म० दयानन्द के इस कथन के निम्नलिखित अभिप्राय हो सकते हैं—(क) जब-जब युद्ध हुए हैं तब-तब उस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये विज्ञान की उन्नति हुई है। उस विज्ञान का उपयोग युद्ध में तो हुआ ही है, साथ ही उससे मनुष्य समाज का हित भी हुआ है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध इस बात के प्रमाण हैं। (ख) शत्रु के भय से देश में युद्ध की तैयारी राष्ट्रीय एकता के लिए साधक है। (ग) तब सम्पूर्ण राष्ट्र में आलस्य का नाश तथा उत्साह और पौरुष का संचार होता है। (घ) कृपण व्यक्ति अपनी कृपणता त्याग कर अपना धन राष्ट्र को समर्पित कर देता है। (ङ) सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रमाद के नष्ट हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति परिश्रम से अपने कार्य में दत्तचित्त हो जाता है। मजदूर और किसानों के अधिकाधिक परिश्रम से देश में धनधान्य एवं अन्य उत्पादनों की वृद्धि होती है। अतः दयानन्द लिखते हैं कि यदि युद्ध का परिणाम शुभ हो तो युद्ध के वर्तमान कष्ट की चिन्ता न करें।

अभिप्राय यह कि युद्ध केवल लड़ाई का पर्याय नहीं है। लड़ाई तो कभी-कभी शत्रु के उन्माद को शान्त करने के लिए आपद्धर्म के रूप में ही करनी होती है। युद्ध एक जीवन-दर्शन है जो राष्ट्र में अनुशासन, उत्साह, धनवृद्धि और ज्ञान-विज्ञान के नये आविष्कारों के लिए अनिवार्य हैं। युद्ध के उद्देश्य में यही एक उदात्तभाव ही सामने रखना चाहिए। तभी म० दयानन्द कहते हैं कि

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७६।
२. देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० २२१-२३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मात्मा राजा से कभी युद्ध न करे।[1] युद्ध का प्रयोजन, उनकी दृष्टि में, यदि राज्य-विस्तार होता तो वे धर्मात्मा राजा से भी युद्ध करने का परामर्श देते।

म० दयानन्द का युद्ध का उद्देश्य दुष्ट की दुष्टता ही समाप्त करना है। वे यहाँ तक लिखते हैं कि यदि कभी किसी शत्रु से निपटने के लिए किसी बलवान् राजा का आश्रय लेना पड़े, किन्तु वह हो दुष्ट, तो समय आने पर उससे भी निःशंक होकर युद्ध करे।[2]

हमारी परम्परा के अनुसार शत्रु से युद्ध में प्राप्त भूमि को उस समय के राजा से छीन कर उस देश के किसी धर्मात्मा पुरुष को लौटा देने की रही है। इस शर्त पर कि वह देश आगे से अपनी दुष्टता त्याग करने की शपथ ले ले।

जो देश दुष्ट वृत्ति से युद्ध करते हैं, उनके लिए म० दयानन्द ने ऋग्वेद के **'मा मर्त्यस्य मायिनः'** (ऋ० १।३९।२) इस मन्त्रांश को उद्धृत करके कहा है कि जो अन्याय रूप काम करता है, वह कभी विजयी न हो। इस प्रकार अन्याय का नाश और धर्म की स्थापना ही युद्ध का उद्देश्य है। दयानन्द यह आवश्यक समझते हैं कि शत्रु से युद्ध से पूर्व युद्ध का कारण प्रसिद्ध होना चाहिए। कारण के प्रसिद्ध कर विश्वमत को अपने पक्ष में करना और यह सिद्ध करना कि हमारा युद्ध का प्रयोजन न्यायोचित है और मानवता के कल्याण के लिए आवश्यक है।[3]

(२) अप्रत्याशित अथवा अचानक कार्यविधि (सरप्राइज़)

राष्ट्र को पौरुष-सम्पन्न (अर्थात् राष्ट्र की युद्ध की तैयारी) बनाकर रखने का प्रयोजन यही है कि यदि कभी कोई उन्मत्त शत्रु अपने बल के अहंकार में दूसरे देश की बल-परीक्षा लेने आ खड़ा होता है तो उस समय यदि सेना में उस शत्रु-राष्ट्र के आक्रमण का मुकाबला करने, अथवा आवश्यकता पड़ने पर स्वयं आक्रमण करने की तैयार न हुई तो निश्चय ही वह पराजित हो जाएगा। अतः राष्ट्र की इतनी तैयारी हो कि वह अपनी अप्रत्याशित अथवा अचानक कार्यविधि से शत्रु को दंग कर दे।

अपने सेनाध्यक्ष के आदेश पर, और सेनाध्यक्ष अपने राष्ट्र के नायक के

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०।

२. **यदि तत्रापि संपश्येद्दोषः संश्रयकारितम्।**
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशंकः समाचरेत्॥ मनु०
(दे० सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०)

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश पर अपना सब काम छोड़कर युद्ध का मोर्चा संभाल ले, चाहे कोई भी दिन हो। चाहे उस दिन उसका विवाह भी क्यों न हुआ हो और वह अपनी परिणीता के साथ प्रथम मधुर रात्रि मना रहे हो, चाहे उसकी माँ अथवा पुत्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा हो, तो भी आदेश का बिगुल बजते ही वह तुरन्त पहुँच जाए। जो राष्ट्र इस प्रकार अप्रत्याशित एवं शत्रु को चौंका देने वाले कदम उठाने के लिए सन्नद्ध नहीं रहते वे कभी विजय प्राप्त नहीं पाते। म० दयानन्द कहते हैं—प्रजापालक राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो। चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपनी ही विजय हो।[1] जो राजा लोग शत्रु-देश को हनन करने की इच्छा से अपने सामर्थ्य के अनुसार बिना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं।[2] इसके विपरीत जो युद्ध-भूमि से पीठ दिखा कर भाग आता है, वह अपराधी है।

सामान्य नियम यही है कि यदि सेना का बल क्षीण हो तो नीति के बल पर प्रयत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करके बैठा रहे। पर ऐसी स्थिति में भी युद्ध आ पड़े तो दुगनी (अर्थात् द्वितीय रक्षा-पंक्ति को तैयार रखें) द्वैध नीति से सेना के विभाग आदि करके शत्रु से युद्ध करे। ऐसी स्थिति में किसी धार्मिक एवं बलवान् राजा का आश्रय लेने में भी उसे चातुर्य प्रदर्शित करना चाहिए।[3] अभिप्राय यह कि हर स्थिति का मुकाबला करने के लिए अप्रत्याशित अथवा अचानक कार्यवाही के लिए वह तैयार रहे।

---

१. **समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।**
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१।)

२. **आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।**
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५१)

३. **मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।**
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥ मनु०
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. शक्ति का उचित केन्द्रीयकरण (कान्सन्ट्रेशन ऑफ़ ऐफ़र्ट इन प्रॉपर प्लेस एण्ड प्रॉपर टाइम)

अनेक राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न हो होते हैं, पर वे अपनी शक्ति का ठीक समय और ठीक स्थान पर उपयोग करना नहीं जानते। उनकी सम्पूर्ण शक्ति दुर्व्यवस्था के कारण इधर-उधर बिखरी पड़ी रहती है। अतः अलग-अलग सेनाओं के अलग-अलग सेनापति भले ही हों। पर उन सबका नेतृत्व अकेला राजा करे। ताकि ठीक समय पर वह सबका उपयोग ठीक स्थान पर कर ले। म० दयानन्द ने ठीक समय और ठीक स्थान पर ही युद्ध करने का परामर्श दिया है :

—जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे।[1]

—जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टि-युक्त प्रसन्नभाव से जाने और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिये जावे।[2]

(४) शक्ति की मितव्ययिता (इकोनामी ऑफ ऐफ़र्ट)

शक्ति के उपयोग का यह अर्थ कदापि नहीं कि सारी शक्ति एक-साथ ही झोंक दी जाए। कभी-कभी युद्ध लम्बा भी चलता है। लम्बा न भी चले तो भी अनावश्यक रूप से सारी शक्ति का व्यय मूर्खता है। अतः कुशल नायक अपनी शक्ति का अत्यन्त विवेक से उपयोग करता है। जिस प्रकार कुशल गृहिणी आय के अनुसार व्यय करती है, धनी से धनी व्यापारी समय को देख कर धन का व्यय करता है, एकदम सारा व्यय नहीं करता। उसी प्रकार कुशल नायक भी मितव्ययिता के सिद्धान्त के अनुसार शक्ति का व्यय करे।

(५) सुरक्षा (सिक्योरिटी)

अपने जन की, धन की, सूचना की और गोपनीयता की सुरक्षा युद्ध-सिद्धान्त का एक अत्यन्त अनिवार्य अंग है। जन और धन पर कोई भी कुदृष्टि

---

१. यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधि समाश्रयेत्॥ मनु०

२. यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ मनु०

(देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाले उसका तुरन्त विरोध करे। शत्रु न माने तो युद्ध करे। युद्धकाल हो या न हों, और यदि हो, तब तो और भी अधिक आवश्यक है कि आपकी कोई भी बात शत्रु न जान सके। शक्ति-सम्पन्न होने पर भी यदि आपकी तैयारी या आपके रहस्य शत्रु देश ने पता लगा लिये तो पराजय निश्चित है। वह अकल्पनीय हानि कर सकता है। वह आपकी शक्ति और गुप्त इरादों के आधार पर अपनी योजना बनाएगा। सुरक्षा की दृष्टि से म० दयानन्द ने राजा को निम्नलिखित आदेश दिये हैं:

—(अपनी सुरक्षा के लिए यह बहुत अनिवार्य है कि) अपने गुप्तचरों की सहायता से यह सदा जाने कि कहीं कोई ऐसा राष्ट्र तो नहीं है, जो ऊपर से मित्र और अन्दर से शत्रु ही। ऐसे मित्रगण शत्रु से बहुत सावधान रहें।[1]

—स्वयं किसी से छल न करे। शत्रु द्वारा उसके प्रति किये जा रहे छल से सावधान रहे, उससे निपटे।[2]

—कोई अपने छिद्र (निर्बलता) को प्रकट न होने दे। वरन् शत्रु के छिद्र को जानता रहे। कछुए की भाँति अपने अंगों को गुप्त रखे और शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे।[3]

—युद्ध-प्रयाण के समय भी चारों ओर के समाचारों की जानकारी के लिए गुप्तचर रखे।[4]

---

१. शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६१।)

२. अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायान्नित्यं स्वसंवृतः॥ मनु०
(देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४।)

३. नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात्परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४)

४. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—युद्ध के समय सेनानायक (राजा) सारी सेना पर दृष्टि रखे, कहीं कोई कपट न रखता हो। सुरक्षा के लिए इस प्रकार की दृष्टि का रखना आवश्यक है।

(६) लचीलापन (फ़्लैक्सिबिलिटी)

युद्ध कभी किन्हीं निश्चित बंधे-बंधाए जड़ सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े जाते। समय और स्थान पर उचित निर्णय लेकर विजय की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। इसके लिए विवेक की आवश्यकता है। आपकी बनाई योजना को शत्रु नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है, अतः उस योजना का एक विकल्प अपने पास रखना आवश्यक है। समय पर आगे बढ़ना और समय पर पीछे हटना—यह सब सिद्धान्तों के लचीलेपन पर निर्भर करता है। म० दयानन्द कहते हैं—

—द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप आए बलवान् शत्रुओं से शश के समान दूर भाग जाए और पश्चात् उसको छल से पकड़े।[1]

—सामान्य सिद्धान्त यही है कि संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर पीठ न दिखा युद्ध करें तो सुख को प्राप्त हों, इसमें विमुख कभी न हों। किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करे, जैसे सिंह क्रोध में सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावे।[2]

(७) सहकारिता एवं मेल-मिलाप (कॉ-ऑपरेशन एण्ड कॉ-ऑर्डिनेशन)

विभिन्न सेनाओं में और सेना के हर विभाग में परस्पर सहयोग की भावना अनिवार्य है। जल, थल आदि और वायु तथा विभिन्न रेजिमेंट्स

---

१. ....सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४)

२. आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यात्यपराङ्मुखः॥ मनु०
(दे० सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और डिवीजन में यदि परस्पर मेल-मिलाप न होगा तो अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाएँगी, और उससे राष्ट्र की शक्ति का ठीक उपयोग असम्भव है। अतः हर सेना और सेना के हर विभाग अपने में स्वतन्त्र होने पर भी उनमें ताल-मेल, मेल-मिलाप तथा सहकारिता की वृत्ति आवश्यक है।

(८) आक्रामक कार्यवाही (आफ़ेन्सिव ऐक्शन)

शत्रु की दुष्ट वृत्ति देखकर उचित समय पर सेनानायक (राजा) के आदेश से आक्रमक कार्यवाही का करना अनिवार्य है। जो नायक ठीक समय पर आक्रमण करने का आदेश नहीं देते, वे शक्ति-सम्पन्न होने पर भी अनेक बार हार का मुंह देखते हैं। अथवा जन, धन, सेना आदि की हानि करवाते हैं। अतः शत्रु की दुष्ट वृत्ति देखकर उचित समय पर उचित निर्णय लेकर आक्रामक कार्यवाही के लिए तैयार रहना चाहिए। शत्रु के हमले की प्रतीक्षा में बैठे रहना मूर्खता है। ठीक समय पर की पहल का युद्ध में विशेष महत्त्व है।

(९) मनोबल (मोराल)

युद्ध के लिए एक अत्यन्त आवश्यक अंग है—मनोबल। सेना, राज्याधिकारी और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का जब तक मनोबल ऊँचा नहीं होता तब तक युद्ध की कल्पना भी भयावह प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में म० दयानन्द के विचार देखिए :

—राजा युद्ध तभी करे जब वह स्वयं और उसकी प्रजा पूर्णतः सुखी और समुन्नत हो।[1] अर्थात् उसका मनोबल इतना ऊँचा हो कि उसमें घबराहट लेशमात्र भी न हो।

—राजा तभी युद्ध करे जब उसे इस बात का निश्चय हो कि उसकी सेना प्रसन्न, युद्ध को उत्साही हो और शत्रु दुर्बल हो।[2] यह तभी सम्भव है जब सेना का मनोबल ऊँचा हो।

राष्ट्र के मनोबल को ऊँचा रखने के लिए आवश्यक है—(क) आधुनिकतम

---

१. यथा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥ मनु०
(दे० सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)

२. यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचुर अस्त्र-शस्त्र (ख) पर्याप्त सेना सैनिक शिक्षा (ग) कुशल सेना नायक और (घ) युद्ध के उपरान्त सैनिकों का समान और उनके परिवारों की व्यवस्था म० दयानन्द ने इन सभी की सुव्यवस्था द्वारा राष्ट्र के मनोबल को स्थिर करने का परामर्श दिया है।

(क) आधुनिकतम प्रचुर अस्त्र-शस्त्र

म० दयानन्द राष्ट्र के स्वाभिमान व मनोबल को ऊँचा रखने के लिए राष्ट्र में आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों का प्रचुर मात्रा में होना आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं—'हे राजपुरुषो, तुम्हारे आगे यदि अस्त्र और शतघ्नी (तोप), भुजदंडी (बन्दूक), धनुष, बाण, करवाल आदि शस्त्र पराजय करने और रोकने के लिए प्रशंसित और दृढ़ हों।[1]

प्राचीनकाल में अनेक प्रकार के अग्नि-वर्धक, जल-वर्षक, आँधी उत्पन्न करने वाले तथा अन्य अनेक प्रकार के अस्त्र विद्यमान थे। आधुनिक युग में नये नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार हुआ है। राष्ट्र में उन सभी अस्त्र-शस्त्रों का होना आवश्यक है। म० दयानन्द कहते हैं। युद्ध में स्थल, जल और आकाश—तीनों मार्गों में क्रमशः रथ, अश्व, हाथी, नौका और विमानादिकों की सहायता की जाए।[2]

(ख) पर्याप्त सेना (सैनिक शिक्षा)

मनोबल को ऊँचा रखने के लिए पर्याप्त सेना का होना भी आवश्यक है। म० दयानन्द कहते हैं। **युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी** (ऋ० १।३९।२) तुम्हारी सेना प्रशंसनीय होवे। अभी हमारी सेना की संख्या बहुत कम है। एक समय था जब हम हर घर से एक व्यक्ति को सैनिक बनाने की इच्छा रखते थे। राष्ट्र का एक चौथाई भाग (क्षत्रिय-वर्ग) राष्ट्र की रक्षा का व्रत लेता था, किन्तु आज ६० करोड़ की संख्या के देश में लगभग १० लाख की सेना की संख्या नगण्य है। कम से कम जनसंख्या की १५ प्रतिशत सेना तो होनी ही चाहिए।

---

१. **स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ॥ ऋग्वेद**
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १४०)

२. (क) देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६२।
(ख) देखिए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'नौविमानादिविद्या-विषय', पृ० १९८-१९९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसे इस सम्बन्ध में युद्ध-सिद्धान्त के वेत्ता ही ठीक परामर्श दे सकते हैं कि हमारी सेना की संख्या कितनी होनी चाहिए।

संख्या के संबंध में म० दयानन्द का यह वाक्य उल्लेखनीय है कि राजा स्वयं राजपुरुषों तथा प्रजा के अनेक लोगों को सैनिक शिक्षा दे।[1] इससे यही सूचित होता है कि सैनिक शिक्षा बड़े पैमाने पर होनी चाहिए। विद्यालयों और महाविद्यालयों से भी सैनिक शिक्षा का संकेट इससे प्राप्त होता है। अनिवार्य न सही, वैकल्पिक विषय के रूप में प्रत्येक शिक्षा-संस्था में इसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध आवश्यक है। शिक्षा-प्राप्ति के बाद दो वर्ष की अनिवार्य सैनिक शिक्षा या समाज-सेवा के क्रियात्मक प्रशिक्षण की व्यवस्था के संबंध में भी विचार करना अपेक्षित है।

म० दयानन्द ने सैनिक शिक्षा का प्रसार भी निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया है।' सेनानायक (राजा) को कहा है कि 'जब (सैनिक) शिक्षा करे तब दण्ड-व्यूह (दण्ड के समान सेना को चलावे), शकटव्यूह (शकट अर्थात् गाड़ी के समाज) वराह-व्यूह (जैसे सूअर एक दूसरे के पीछे दौड़ते हैं, कभी कभी मिल कर एक झुण्ड हो जाते हैं)। मकर-व्यूह (जैसे मगर पानी में चलते हैं) सूची-व्यूह (जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है) और नीलकंठ-व्यूह (जैसे नीलकंठ नीचे झपट्टा मारता है) के रूप में सेना बनावे।[2] अभिप्राय यह कि सैनिक शिक्षा की व्यवस्था राज्य में अवश्य हो, जिससे देश में सेना की संख्या की कमी न हो। द्वितीय रक्षा-पंक्ति सदा तैयार रहे। सैनिक शिक्षा व सेना की पर्याप्त संख्या से देश का मनोबल बहुत ऊँचा रहता है।

(ग) कुशल सेनानायक राजा

सेना और राष्ट्र के मनोबल के लिए सेनानायक का कुशल होना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) वह पुत्रवत् सेना को रखे। सेना के दुःख में अपना सुख-दुःख समझे।

(२) समय-समय पर उनको प्रेरणा देता रहे, उनका अपने प्रभावी भाषणों

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६३।

२. **दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।**
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६३)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उत्साह-वर्द्धन करता रहे। युद्ध के समय में उत्साहपूर्ण वचनों का जादू का सा प्रभाव होता है। युद्ध के बाद भी जो अच्छा लड़े हैं, उनका तथा अन्य सभी का उत्साह-वर्द्धन करे।[1]

(३) युद्धकाल में खानपान, औषध आदि की सुव्यवस्था करे।[1]

(४) युद्ध की जो पद्धति है, (अर्थव्यूह-रचना आदि) इसका कुशल निर्देश करे।[2]

इन सब उपायों से सेनानायक सेना का मनोबल ऊँचा करने में समर्थ होता है।

(घ) युद्ध के उपरान्त सैनिकों का सम्मान और उनके परिवारों की व्यवस्था

सेना के मनोबल को ऊँचा रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि युद्ध के उपरान्त वीर सैनिकों का समुचित सम्मान हो, उनका उपाधियों एवं पदकों एवं पदोन्नति आदि से उत्कर्ष हो।

प्राचीन काल में युद्ध में शत्रु की जीती भूमि, सम्पत्ति आदि लाने की पद्धति भी थी। सामान्य नियम यही था कि उसे लौटा दिया जाय, किन्तु यदि किन्हीं कारणों से न लौटाया गया हो तो राजा इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस अमात्य व अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय आदि पशु, स्त्रियाँ तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्पे जीते हों, वही उसके अधीन हो।[3] युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति पर अधिकार हो जाने की प्रेरणा ही उन दिनों व्यक्ति का मनोबल ऊँचा करती होगी।

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६४।

२. **प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्।**
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि।। मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६४)।

३. **रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।**
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।। मनु०
देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५२।

यहाँ स्त्री के अधिग्रहण का अभिप्राय कोई ग़लत हो सकता है। इसका ठीक अभिप्राय इसी अध्याय में 'युद्ध के बाद का व्यवहार' शीर्षक में देखें।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इसी के साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी कि सेना-स्थ जन उन जीते पदार्थों में से सोलहवाँ भाग राजा को देवे। राजा ने जब सेना के साथ मिलकर जो सम्पत्ति प्राप्त की हो, उसका सोलहवाँ भाग वह सारी सेना पर व्यय करे। चाहे वह कितने ही करोड़ों रुपए क्यों नहीं ?'[1] यह व्यवस्था भी उस समय सेना के मनोबल को बढ़ाने के लिए रही होगी। आज की स्थिति में कोई नई व्यवस्था की जा सकती है। युद्ध के बाद सेना को कुछ लाभ हो ऐसा प्रबन्ध अवश्य रहे।

विजयी सैनिकों के सम्मान के साथ ही जो कोई युद्ध में मर गया हो उस की स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जाएं तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे, जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करे।[2]

स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था सेना के उत्साह एवं मनोबल के लिए आवश्यक है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रजा और सेवा का मनोबल बढ़ाने के लिए कृत और करणीय कर्मों के गुण-दोषों का राजा सदा विचार करे। विचार-मन्थन से प्रकट गुणों की स्थिर तथा दोषों को दूर करके राज्य शत्रु से कभी पराजित नहीं होता।[3] ऐसी स्थिति में जब भारत की सीमाओं पर शत्रु का भय सदा बना रहता है, देश का मनोबल ऊँचा रखना है। उक्त उपाय अपना लेने पर राष्ट्र का मनोबल बढ़ता है और शत्रु भयभीत हो जाता है। अतः ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है।

(१०) कुशल-प्रशासन (ऐडमिनिस्ट्रेशन)

युद्ध के सिद्धान्तों में कुशल प्रशासन का अत्यन्त महत्त्व है। युद्ध की सामग्री, सेवा, चिकित्सा आदि सुचारु रूप से चलती रहें, ऐसी व्यवस्था

---

१. (क) राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ १ ॥
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५८)
(ख) देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञान पृ० ३७२।

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य है। जन-क्षति न हो जाए इसका पूर्ण प्रबन्ध आवश्यक है। अस्त्र-शस्त्र पर्याप्त मात्रा में हों, मार्ग प्रशस्त हों तथा सीमाओं की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध हो। इसके लिए म० दयानन्द का कथन है—

—राजा युद्ध में प्रयाण करते हुए अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध, यात्रा की (खाद्य आदि की) सारी सामग्री, सब सेना, यान-वाहन, शस्त्रास्त्र आदि ले ले। साथ ही चारों ओर के समाचारों की जानकारी देने के लिए गुप्तचर रखे।[1]

—तीन प्रकार के मार्गों—स्थल, जल, वायु—को शुद्ध (समुचित) बना कर, युद्ध-सामग्री और खाद्य, धनादि सामग्री को यथावत् साथ ले। पूर्ण बलयुक्त होकर किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे धीरे जावे।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण व्यवस्था करके ही युद्ध-प्रयाण करना चाहिए। किन्तु केवल युद्धकाल में ही प्रशासन में कुशलता लाने का प्रयत्न किया गया, तो वह असम्भव होगी। अतः कुशल प्रशासन से उक्त बातों की समुचित व्यवस्था हमेशा ही रहनी चाहिए। युद्ध से पूर्व ही शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण (उपदेश) शिल्पी, नाना प्रकार के यन्त्र, चारा, घास, जल आदि से परिपूर्ण हो।[3] आजकल पेट्रोल आदि की भी गिनती करनी चाहिए।

कुशल-प्रशासन के ही अन्तर्गत सीमाओं की सुरक्षा भी आती है। म० दयानन्द ने चारों ओर सुदृढ़ दुर्ग बनाने का परामर्श दिया है। यह दुर्ग धनुर्धारी पुरुषों (अस्त्र-शस्त्र धारी सैनिकों), पृथ्वी, जल, वन आदि से घिरा हो। अर्थात्

---

१. कृत्वा विधानं मूले तु याचिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६२)

२. संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६०)

३. तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १४६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाकर इसके मध्य नगर बनावे ।[1] नगर के चारों ओर प्रकोट (प्राकार) बनावे, उसमें स्थित एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष सौ के साथ, और सौ दस हज़ार के साथ युद्ध कर सकते हैं ।[2]

अभिप्राय यह कि हमें अपनी सीमाओं की सुरक्षा की ऐसी व्यवस्था करनी है कि वहाँ रहने वाली सेना को किसी भी वस्तु की कमी अनुभव न हो, और वहाँ प्रकोट न सही आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन लेकर (पिलग्रिम आदि बनाकर) कुछ ऐसी व्यवस्था करनी आवश्यक है, जिससे हमारा एक सैनिक शत्रु के सौ सैनिकों का मुकाबला कर सके । सीमाओं पर वीर नागरिक रहें, यह भी व्यवस्था आवश्यक है । कुशल-प्रशासन से इन चीज़ों की समुचित व्यवस्था से आधा युद्ध जीता माना जा सकता है ।

युद्ध में उठाए कदम (आपरेशन्स आफ़ वार)

युद्ध में चार प्रकार के कदम उठाए जाते हैं—(१) शत्रु का आक्रमण होने पर अपनी रक्षा (२) शत्रु की बदनीयती देखकर उसकी ओर आक्रमण के लिए बढ़ना । (३) आक्रमण कर देना और (४) समय तथा परिस्थिति के अनुसार पीछे लौटना । युद्ध में ये चारों कदम समय को देखकर सेनानायक को उठाने होते हैं ।

महर्षि दयानन्द ने आक्रमण के कुछ प्रकार लिखे हैं । प्राचीन युद्ध-विद्या की जानकारी की दृष्टि से उनका उल्लेख आवश्यक है—

पीछे हम सैनिक शिक्षा के प्रसंग में सेना की गतिविधियों का वर्णन कर चुके हैं । आक्रमण के समय उनका प्रयोग करना होगा ।

जिधर भय अधिक हो, उधर सेना को फैलावे । स्वयं सेना के मध्य में रहे तथा चारों ओर सेनापतियों की वज्र-व्यूह बनाए । जिधर से भय अधिक हो उधर तो सेना का अधिक भाग रखे ही, साथ ही अन्य सातों दिशाओं में भी सेना को सतर्क रखे । कहीं धोखे से शत्रु किसी अन्य दिशा से न आ सके । सेना

---

१. धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ।।
(देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १४८)

२. एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ।। मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १४६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के चारों ओर अत्यन्त कुशल, युद्ध-विद्या में प्रवीण, स्तम्भ के समान दृढ़ तथा अविचलित मन वाले सैनिकों को रखे।[1]

—जब थोड़े मनुष्यों से लड़ना हो तो अपनी सेना को इस प्रकार इकट्ठा करके लड़ाए कि आवश्यकता पड़ने पर फैलाया जा सके। यदि शत्रु की सेना में घुस कर उसके नगर अथवा दुर्ग में प्रविष्ट होना हो तो सूची अथवा वज्र-व्यूह के रूप में जाए। दुधारु तलवार से दोनों ओर युद्ध करता जाए। सामने तोप व बन्दूक छूट रही हो तो सर्वव्यूह अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जाएँ और तोपों के पास पहुँच, उनका मुंह घेर कर उन्हीं की तोपों से शत्रुओं पर वार करे। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार कर दौड़ावे और बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा मार दें।[1]

—यदि समभूपि पर युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े और पदातियों से, यदि समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जल में हाथियों पर और वृक्ष और झाड़ी में बाण तथा बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करावे।[2]

—अनेक बार शत्रु नैतिकता और युद्ध-नियमों को सर्वथा तिलाञ्जलि दे कर नागरिकों आदि पर धावा आरम्भ कर देता है। उस आपत्काल में 'शठे शाठ्यं समारेत्' का ही सिद्धान्त अपनाना चाहिए। म० दयानन्द

---

१. (क) यतश्च भयमाशंकेतत्तो विस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥
(ख) सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद् दिशम्॥
(ग) गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलान् भीरुनविकारिणः॥ मनु०

२. संहतान् योद्धयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन ब्यूह्य योधयेत्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ०१६३)

३. स्यन्दनाश्वैः समे युद्धेदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरासिचर्मायुधैः स्थले॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं किसी समय उचित समझ कर शत्रु को चारों ओर से घेर कर रोक रखे और उसके राज्य को पीड़ित कर शत्रु के चारा, अन्न, जल और ईन्धन को नष्ट कर दे। शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़ फोड़ दे। रात्रि में उनको भय देवे और जीतने का उपाय करे।[1]

युद्ध में और युद्ध के बाद शत्रु के साथ व्यवहार

जेनेवा सम्मेलन में शत्रु से साथ व्यवहार के ३२ नियम निर्धारित किये गये थे। उनमें से कुछ युद्ध-काल के थे, जैसे—ज़हरीले यन्त्रों, सीसे की मुलायम गोलियों, पानी में विष आदि का प्रयोग न किया जाए। अपने को समर्पित करने वाले सैनिक अथवा सेना पर वार न करे। इसी प्रकार नागरिक अड्डे, सामान्य नागरिक अस्पताल व अस्पताल के वाहन आदि पर कोई बम आदि न फेंके। युद्ध वन्दी के साथ आदर का व्यवहार और बीमार बन्दी की सेवा करे। इसी प्रकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि युद्ध-विराम में युद्ध-बन्दी सैनिक से उसके देश की सैनिक-व्यवस्था न पूछे। उसके नाम रैंक और नम्बर के अतिरिक्त और कुछ न पूछे। यदि दोनों राष्ट्र इन नियमों का पालन कर सकें तो यह आदर्श स्थिति है।

प्राचीन काल में, विशेषतः भारत में, इस सम्बन्ध में आदर्श और भी ऊँचे थे। तब युद्ध का समय निश्चित था। युद्ध आरम्भ और समाप्त करने के लिए बिगुल बजता था। युद्ध-समाप्ति के बिगुल के बाद दोनों पक्षों के सैनिक मित्र-वत् व्यवहार करते थे। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि हॉकी, क्रिकेट आदि के खेल के बाद टीमों के खिलाड़ी परस्पर व्यवहार करते हैं।

महर्षि दयानन्द ने भी इस सम्बन्ध में जो मर्यादाएँ निर्धारित की हैं वे महान् हैं। यदि राष्ट्र परस्पर उसी प्रकार का व्यवहार करें तो वह कदम मानवता के कल्याण का होगा।

(क) युद्ध-समय की मर्यादा

म० दयानन्द ने युद्ध-समय में निम्नलिखित पर वार न करने का निर्देश दिया

---

१. (क) उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥
(ख) भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कंधयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है : न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, जिसके सिर के बाल खुल गए हैं, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण हूँ' ऐसा कहने वाले, न सोते हुए, न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुए को देखने वालों, न शत्रु के साथी, न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए और न पलायन करते हुए पुरुष को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें।[1] स्त्री, बालक, वृद्ध आतुर, और शरणागत पर भी शस्त्र कभी न चलावें।[2]

(ख) युद्ध के बाद शत्रु से व्यवहार

उनको जो अच्छे हों, पकड़ के बन्दीगृह में रख लें, और भोजन-आच्छादन यथावत् देवें। और जो घायल हुए हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिड़ावें, न दुःख देवें, जो उनके योग्य काम हो करावें।[3] अभिप्राय यह कि हारे हुए शत्रु की अप्रतिष्ठा कभी न करें, किन्तु उसका यथायोग्य मान रखें। परन्तु उसको छोड़कर स्वतन्त्रता कदाचित् न देवें।[4]

महर्षि दयानन्द की स्पष्ट मान्यता है कि युद्ध शत्रु के दुष्ट भाव के विनाश के लिए है, किसी को सताने या राज्य-विस्तार आदि के लिए नहीं। युद्ध करके शत्रु के राज्य को अथवा उसके राज्य की वस्तुओं को हड़प लेना अनुचित है। क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और बिना प्रीति का कारण है। विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है। युद्ध में विजय प्राप्त

---

१. (क) न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥
(ख) न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीवं न कृतांजलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥
(ग) नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्त सतां धर्ममनुस्मरन्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१)।

२. (क) देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० १५१ (१८वाँ नियम)।
(ख) सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१।

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५१।

४. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, (१९वाँ नियम)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के उपरान्त कभी उसको चिढ़ावे नहीं, न हंसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा कहे। किन्तु आप हमारे भाई हैं, इत्यादि मान प्रतिष्ठा करे।[1]

उनके लड़कों, बालों, को अपनी सन्तानवन् पाले। और स्त्रियों को भी पाले उनको अपनी बहन और कन्या के समान समझे। कभी विषयासक्ति को दृष्टि में भी न देखे।

"जब राज्य अच्छी प्रकार जम जाये, और जिनमें पुनः पुनः युद्ध करने की शंका न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे और जिनसे भविष्य में विघ्न होना संभव हो उनको सदा कारागार में रखे।[2]

(ग) शत्रु से समझौता

शत्रु को जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसा उपदेश करे। और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। यदि वह मान जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योग-क्षेम भी न हो।

यदि उनको बन्दीगृह में रखना अनिवार्य ही हो तो उसका सत्कार यथा-योग्य करे जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर रहे।[3]

युद्ध का उल्लेख करने के बाद निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि युद्ध की तैयारी राष्ट्र को अनुशासित करने एवं उसका मनोबल बढ़ाने केलिए तथा युद्ध का प्रयोग दुष्ट देश की दुष्टता को नष्ट करने के लिए आवश्यक है। अपने देश की सीमाओं एवं मर्यादाओं की रक्षा के लिए, प्रत्येक देश का सन्नद्ध रहना आवश्यक है। देश की रक्षा-व्यवस्था ही उसका प्राण है।

---

१. आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ।। मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० -१६४)

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५ -१५२।

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४।

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya Library
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ | अर्थ-व्यवस्था

परिभाषा

महर्षि दयानन्द के अनुसार अर्थ वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाए। जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको अनर्थ कहते है।[1] इसका अर्थ यह है कि अपने परिश्रम से राज्य-नियमों के अनुसार जो अर्जित किया जाता है, वही अर्थ है। चोरी, लूट-खसोट, शोषण आदि से अर्जित वस्तु अथवा धन अनर्थ है। हमें चाहिए कि लूट-खसोट, शोषण आदि से नहीं वरन् किन्हीं सुनिश्चित नियमों से धन ग्रहण करें।

आज यह सामान्य धारणा है कि बिना अधर्म के, झूठ के अर्थ की प्राप्ति अथवा उसका अर्जन असम्भव है। किन्तु यह धादणा उन लोगों की है जो अनुचित एवं अनैतिक उपायों से 'काला' धन कमाना चाहते हैं। ऐसा धन अन्ततः फलदायी नहीं होता, दुःखदायी होता है।

महर्षि दयानन्द ने बजाज और खरीददार के कई प्रकार के उदाहरण देकर बताया है कि धर्म और सत्य के आधार पर किया गया व्यापार अधिक फलदायक होता है, और व्यापारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी रहता है।[2] आज भी व्यापार के मूल में 'साख' अथवा परस्पर विश्वास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आज अर्थ-संग्रह में बेईमानी का कारण जहाँ नैतिक मूल्यों का हनन है, वहाँ सरकारी नियमों की अस्पष्टता, उनके कार्यान्वयन में ढील और दण्ड-व्यवस्था के दोष भी हैं। हमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को ईमानदारी और धर्म पर केन्द्रित करना होगा।

---

१. देखिए, स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश, अर्थ की परिभाषा।
२. देखिए, दयानन्द लघुग्रन्थ-संग्रह, व्यवहारभानु, पृ० ३१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ-संग्रह (कर-प्रणाली द्वारा)

महर्षि दयानन्द कहते हैं जैसे बगला ध्यानावस्थित होकर मछली को पकड़ने के लिए ताकता है वैसे राजा अर्थ-संग्रह का विचार किया करे।[१] अर्थात् उसे अर्थसंग्रह के लिए अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। राजा के अर्थ-संग्रह-रूप महान् कार्य में थोड़ी सी ढील होते ही देश की अर्थव्यवस्था शिथिल हो जाती है।

राज्य के लिए अर्थसंग्रह का प्रधान साधन आयकर है। म० दयानन्द ने सुव्यवस्थित कर-व्यवस्था का विधान किया है और निम्नलिखित नीति-वाक्य निर्धारित किये हैं—

(क) जिनसे राजपुरुष और प्रजा-जन सुखी हों, राजा और राजसभा राज्य में वैसा 'कर' स्थापन करे।[२]

(ख) जैसे जोंक, बछड़ा और भमरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे।[३]

(ग) अति लोभ से [इतना कर कभी न ले कि] दूसरों के सुख के मूल को नष्ट करे।[४]

(घ) जैसे राजा और कृषीवल आदि प्रजा सुखी रहे वैसा कर-प्रबन्ध प्रजा में करे।[५]

राजा (शासक) का कराधान करने का प्रयोजन राज्य का संचालन अर्थात् राज्य की प्रजा का संरक्षण एवं उसकी सर्वांगीण उन्नति कर उसे सुख पहुंचाना है। यदि करों के भार से प्रजा दबने लगे, उस कारण उसके जीवन-यापन में भी कठिनाई हो तो कर उसकी उन्नति व सुख के स्थान पर उसे कष्टदायक सिद्ध होंगे। वर्तमान समय में हमारे देश में धनी वर्ग (शासक, राज्याधिकारी व व्यापारी) कर की चोरी करता है और निर्धन वर्ग करों के भार से पिसता

---

१. वकवच्चिन्तयेदर्थान् (मनु०) (देखिए सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५४)।

२. यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कपल्येत्सततं करान्॥ मनु०
(देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५७)

३. यथाल्पाल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्य्योकवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाऽल्पो गृहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥ वही,

४. नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलम् परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मनं तांश्च पीडयेत्॥ मनु०
सत्यार्थप्रकाश, पृ० १५७।

५. (देखिए, ऋ० दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७३(२९वां अध्याय)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वस्तुतः कर की चोरी करने वाला देश-द्रोही है।

आयकर किस प्रकार लगाया जाय? इसका भी उल्लेख म० दयानन्द ने किया है। उनके द्वारा उल्लिखित आयकर को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) व्यापार करने वाले व शिल्पी को सुवर्ण और चाँदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवाँ भाग कर रूप में देना चाहिए।[1] इस स्थापना की विस्तृत व्याख्या यह होगी कि धनी वर्ग से उनकी आय का ५०% कर रूप में लेना अभीष्ट है।

(ख) चावल आदि अन्नों में छटा, आठवाँ, बारहवाँ भाग लिया करे। यह ध्यान रखे कि इतना कर आदि न ले लें कि उससे किसान आदि को खाने-पीने और धन की कमी का कष्ट हो[2]। यह कर मध्यम वर्ग का है। मध्यम वर्ग से कर लेते हुए कर-निर्धारण में लचीलापन होना चाहिए। किसान, छोटे दूकानदार तथा अन्य मध्यम वर्ग के लोगों की आय पर उनके जीवन-यापन की समस्याओं को ध्यान में रखकर 'कर' लगाना चाहिए। इस प्रसंग में म० दयानन्द विशेष रूप से लिखते हैं कि क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खानपान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की ही उन्नति होती है।[3] अतः इन पर करों का अधिक भार न लाद दें।

(ग) जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियाँ व नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे। महासमुद्र में निश्चित कर-स्थापन नहीं हो सकता। जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे।[4] यहाँ विदेशों से व्यापार और उस व्यापार से हुए लाभ पर लगाए कर का उल्लेख है। यह कर भी राजा समय-समय पर निर्धारित करता रहे। मूल बात एक है कि उससे राज्य और व्यापार दोनों का लाभ हो।

१,२. पचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ (देखिए, स०प्र०, पृ० १६५)

३. देखिए, सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६६।

४. दीर्घाध्वनि यथादेश यथाकालन्तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद् विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम्। मनु०,
(देखिए, स०प्र०, पृ० १७५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म० दयानन्द ने कर-निर्धारण के सम्बन्ध में केवल यही संकेत दिए हैं। इनसे यह सूचित होता है कि कर-निर्धारण में दो बातों का ध्यान रहे—(क) प्रजा की सुविधा और सुख तथा (ख) व्यापार की उन्नति। म० दयानन्द ने नौकरी पेशा लोगों पर कोई कर लगाने का परामर्श नहीं दिया, उसकी चर्चा भी नहीं की। नौकरी-पेशा व्यक्ति पर कर लगाना विचित्र ही प्रतीत होता है। जो पैसा सरकार व्यक्ति को देती है, उसी में से कुछ पैसा वापिस ले लेने में सरकार को जो व्यवस्था करनी पड़ती है, वह देश की जनता पर ही आर्थिक भार है। नौकरी के अनुसार व्यक्ति का वेतन निर्धारित करते हुए कर का भी ध्यान रख लिया जाए तो यह एक हाथ से देना दूसरे हाथ से लेने का झंझट न रहे। नौकरी-पेशा व्यक्ति पर कर-निर्धारण का प्रयोजन यह है कि उस पर अन्य स्रोतों से प्राप्त आय पर भी कर लगाया जा सके। हमारी सम्मति में 'अन्य स्रोतों' पर ही अंकुश लगाना चाहिए। इसी प्रसंग में यह कहना अप्रासगिक न होगा कि देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए 'अतिरिक्त समय के द्वारा प्राप्त आय पर अधिकाधिक रोक लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो देश बेकारी के भयंकर रोग से पीड़ित हो उसी देश में यदि कुछ लोग तो अपनी नौकरी करते हुए भी अतिरिक्त कार्य करते रहें, और कुछ को कोई काम ही न मिले—इस व्यवस्था को सुधारना चाहिए।

वर्तमान युग में कर-निर्धारण विषय भी अत्यन्त जटिल है। सम्पत्ति-कर, उत्पादन-कर, विक्रय-कर आदि अनेक कर हैं। इन्हें सरल बनाना चाहिए, ताकि साधारण जनता इन्हें समझ सके। हमें दयानन्द के इस नीति-वाक्य को कि 'करों का उद्देश्य प्रजा-सुख है' सदा ध्यान में रखना चाहिए। करों का परिणाम जनता के जीवन को दूभर बनाना न हो। इनसे मूल्य-वृद्धि न बढ़े। केन्द्र, प्रान्त और स्थानीय करों में अधिकाधिक ताल-मेल हो। इन करों को इस प्रकार लगाया जाए कि उनसे विषमता दूर हो और आर्थिक विकास एवं योजना के लक्ष्य में मदद मिले। विक्रय-कर लगाते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखें कि इनसे आवश्यक वस्तुएँ सर्वसाधारण के लिए सुलभ रहें।

अर्थ-संग्रह (वृद्धि एवं व्यय) के चार पुरुषार्थ

महर्षि दयानन्द ने अर्थसंग्रह, वृद्धि व व्यय के लिए निम्नलिखित चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया है—(क) अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा (ख) नित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखने से प्राप्त की रक्षा (या रक्षित की वृद्धि) और (घ) प्रवृद्ध धन का व्यय ।[1] इन की व्याख्या म० दयानन्द के अनुसार इस प्रकार की जा सकती है—

(क) अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा

राष्ट्र के कुछ लोग कर की चोरी करने में सिद्धहस्त होते हैं । आज हमारे देश में तो करों की चोरी एक भयंकर रोग की तरह अर्थव्यवस्था को खा रही है । आयकर अधिकारियों को ये लोग घूस आदि देकर इस चोरी में उन्हें भी भागी बनाते हैं । हमारी कुल राष्ट्रीय आय(जो कि १९७ -७३ में ३८५७३ करोड़ रुपए थी) का केवल ६ प्रतिशत धन ही राज्य को मिल पाता है । १९७४-७५ में यह कुल ४०८ करोड़ रुपए है, १९७२-७३ में यह ४५९३ करोड़ था । देश की विशालता को देखते हुए यह बहुत कम है । इस कमी का कारण कर की चोरी है ।

म० दयानन्द ने इस समस्या पर विजय प्राप्त करने के दो उपाय निर्दिष्ट किए हैं—१. ईमानदार आयकर अधिकारी और २. कठोर दण्ड । आयकर की चोरी रोकने के लिए आवश्यक है कि आयकर अधिकारी अत्यन्त ईमानदार हों । म०दयानन्द का कथन है कि वार्षिक कर आप्त पुरुषों द्वारा प्राप्त करे । **सांवत्सरिकमाप्तैश्च** ।[2] पर आज के इस वातावरण में कौन व्यक्ति आप्त अथवा प्रामाणिक है, यह कहना अत्यन्त कठिन है । नियुक्ति में व्यक्ति के चरित्र आदि की कोई जानकारी नहीं की जाती, और वर्तमान परिस्थितियों में न की जा सकती है ।

म० दयानन्द ने दूसरा उपाय दण्ड द्वारा अप्राप्त कर को प्राप्त करने का बताया है । पर जब लेने वाला और देने वाला दोनों बेईमान हों तो दण्डव्यवस्था एक उपहास बनकर रह जाती है । यह बात नहीं कि वर्तमान काल में कर वसूल करने के लिए दण्ड-व्यवस्था का अभाव है, पर फिर भी वह अयोग्य अधिकारियों के कारण सफल नहीं हो पा रही । फिर करदाता भी राष्ट्रीय कर्त्तव्य नहीं समझ पा रहा । वह जैसे-तैसे 'कर' न देने के नये-नये तरीके सोचता है । यह

---

१. (क) **अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।**
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।
(ख) **अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेवेदक्षया ।**
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ।। (स०प्र०, पृ० १५४)
(ग) देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७२ ।

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५१ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अत्यन्त गम्भीर अपराध है। इसका उपचार दण्डव्यवस्था के अतिरिक्त और क्या हो सकता हैं ? उसे ही कठोरता से लागू करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ख) नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा

प्राप्त धन किस प्रकार से व्यय हो रहा है, उसका कहीं दुरुपयोग तो नहीं हो रहा ? आदि बातों पर अर्थमन्त्री को प्रतिदिन ध्यान देना चाहिए। धन का व्यय बजट के अनुकूल ठीक हो रहा है या नहीं ? उसका कहाँ कहाँ अपव्यय हो रहा है ? इन सब बातों पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

(ग) रक्षित की वृद्धि

रक्षित धन को बढ़ाने का प्रयत्न करना भी राज्य का कर्तव्य है। धन दो प्रकार से बढ सकता है—(क) व्याज से (ख) व्यापार से। महर्षि दयानन्द धन को व्याज से ही बढ़ाने का परामर्श देते हैं। दूसरे राष्ट्रों तथा देश के व्यापारियों किसानों आदि को ऋण देकर उसका व्याज लिया जा सकता है। उन्होंने ने व्यापार से धन को बढ़ाने का परामर्श नहीं दिया।

(घ) प्रवृद्ध धन का व्यय

महर्षि दयानन्द ने चार पुरुषार्थों में प्रवृद्ध धन के व्यय पर भी विचार किया है। राज्य के पास दो प्रकार के धन हैं—(क) करों से प्राप्त धन (ख) व्याजादि से बढ़ा धन। करों से प्राप्त धन को बजट के अनुसार व्यय करना चाहिए, किन्तु जो धन व्याज-आदि से बढ़ा है, उससे वेद-प्रचार रूप अक्षय कोश की स्थापना करनी चाहिए। इन दोनों प्रकार के धनों के व्यय का अध्ययन हम आगे कर रहे हैं।

राज्य की आय का व्यय (बजट)

राज्य की आय (कर द्वारा तथा व्याजादि द्वारा प्राप्त) का व्यय किस प्रकार किया जाए, यह इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य किस बात को कितनी प्राथमिकता देता है। महर्षि दयानन्द द्वारा आय के व्यय का विवरण इस प्रकार है—

—सब राज्य की आय में से दशांश धर्म-आदि के लिए नियत रखे। उस से वेद विद्या, धर्म, सुशिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचारित करे। आपत्काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करे'।

—राज्य के आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर कोश, दो अंश राजकुल, तीन अंश सेना विभाग, एक अंश स्थान विशेष और एक अंश शिल्प-विद्या की उन्नति में लगावे।²

इस विवरण की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

(१) महर्षि दयानन्द ने राज्य की १० प्रतिशत आय शिक्षा-व्यवस्था के लिए तथा वैदिक धर्म की उन्नति के लिए निर्धारित की है। उसमें से कुछ राशि आपत्काल में अनाथों आदि के लिए भी व्यय करने के लिए कहा है। १० प्रतिशत आय का उपयोग उन्होंने शिल्प-विद्या (भौतिक विज्ञान) की उन्नति के लिए निर्धारित किए हैं। इस प्रकार लगभग २० प्रतिशत धन शिक्षा पर व्यय करने के लिए कहा है। महर्षि दयानन्द की कल्पना के भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा-व्यवस्था गुरुकुलों में होती है, जहाँ के ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) शिक्षा सामाजिक सहायता तथा स्वयं उत्पादन द्वारा अपना खर्च चलाते हैं। उस शिक्षा-प्रणाली में त्याग, तपस्या और सादगी पर बल है। जिस कारण व्यय की बहुत कम संभावना होती है। फिर भी २० प्रतिशत धन को शिक्षा पर व्यय करना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि वे इसे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं।

आजकल हमारे देश में प्रथम योजना में जहाँ ८ प्रतिशत धन शिक्षा व्यवस्था के लिए रखा था, वहाँ अब अन्तिम योजना में वह कुल ३ प्रतिशत रह गया है। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा-प्रणाली को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा रहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार प्रत्येक बालक की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। हमारी वर्तमान सरकार भी सिद्धान्त रूप मे इस बात से सहमत है। पर वह अभी तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकी। जब तक कुल बजट का (जो १९७४ ७५ में हमारे देश में ५४०८ करोड़ रुपए है) ३ प्रतिशत के स्थान पर २० प्रतिशत धन शिक्षा पर व्यय नहीं होगा, तब तक देश की शैक्षणिक समस्याएँ अधर में लटकती रहेंगी। 'अनिवार्य शिक्षा' चल नहीं पाएगी। अभी तक हमारे देश में उच्च शिक्षा, अनुसंधान विशेषतः वैज्ञानिक अनुसंधान, एवं शिल्प-आदि विद्याओं की उन्नति की आदर्श व्यवस्था

१,२. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७३, ५७४ (३९, ४०वां नियम)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। २० प्रतिशत न सही कम से कम १० प्रतिशत बजट तो शिक्षा पर व्यय होना ही चाहिए।

शिक्षा-व्यवस्था पर हमने अपनी दूसरी पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। यहाँ शिक्षा पर होने वाले व्यय को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(क) यदि हम एकदम देश के हर बच्चे की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था न भी कर सकें तो भी देश की पिछड़ी जातियों के बच्चों के लिए हमें घर से दूर शुद्ध वातावरण में उनकी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। (ख) शिक्षा-प्रणाली में ऐसी व्यवस्था हो कि बच्चा केवल किताबी शिक्षा ही प्राप्त न करे, वरन् वह उत्पादन में भाग ले, सैनिक शिक्षा प्राप्त करे। सामाजिक कार्यों को क्रियात्मक रूप से करे। (ग) शिक्षा-प्रणाली में अध्यापकों पर जो व्यय हो रहा है, उसे कम करना चाहिए। बच्चों की शिक्षा सेवा-निवृत्त व्यक्तियों से कराई जाए (उन्हें ५५ वर्ष में सेवा निवृत्त किया जाए)। आज हमारे देश में सेवा-निवृत्त व्यक्ति भी बेकारी सी अनुभव करते हैं। उन्हें केवल उदर-पूर्ति के लिए धन देकर कार्य दिया जाए। (घ) हमारे देश में जितने मन्दिर हैं (आर्यसमाज, जैन, सनातन, बौद्ध, गुरुद्वारा, गिरजाघर, मस्जिद)—उनका उपयोग बच्चों की शिक्षा के लिए हो। प्रत्येक मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और गिरजाघर उन बच्चों की शिक्षा का व्यय वहन करे। पूजा के समय को छोड़ कर ये भवन बेकार पड़े रहते हैं। अन्य भी कुछ सामाजिक संस्थाओं को शिक्षा का कार्य देना होगा।

(२) महर्षि दयानन्द ने २० प्रतिशत धन स्थिर कोश के लिए निर्धारित किया है। यह कोश ऐसा हो जो सदा स्थिर रहे। दुधारु गौ की तरह इसका व्याज देशोपयोगी कार्यों में व्यय होता रहे। इस स्थिर कोश के व्याज से बढ़े धन से म० दयानन्द ने वेद-विद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी वेद मार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगाने का परामर्श दिया है।[1] 'वेद प्रचार' से अभिप्राय है—देश में नैतिक, आध्यात्मिक एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयक शिक्षा का विस्तार। इस प्रकार शिक्षा एव नैतिकता के प्रसार के साथ-साथ आपत्काल में निर्धन लोगों पर ही इस धन को व्यय करना चाहिए। महर्षि दयानन्द

---

१. (क) देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५२।
(ख) देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७३ (३९वाँ नियम)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशोन्नति के लिए शिक्षा के प्रसार और निर्धनता के नाश को ही आवश्यक समझते थे।

(३) कुल बजट का २० प्रतिशत धन महर्षि दयानन्द ने राजकार्य के लिए निर्धारित किया है। सारी सरकारी मशीनरी इसी धन के आधार पर चलती है। आज हमारे देश का अधिकांश धन इसी सरकारी मशीनरी पर व्यय हो रहा है। सरकारी व्यय १९५१ की तुलना में आज १९७- में १६०० प्रतिशत बढ़ चुका है। और यह व्यय निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। सरकारी व्यय मुख्यतः दो कारणों से बढ़ रहे हैं—(१) अपव्यय (२) विलासिता। इन दोनों ही कारणों पर रोक लगानी अपेक्षित है। महर्षि दयानन्द ने धन के अपव्यय की तथा उसके अधार्मिक कार्यों में व्यय करने की घोर निन्दा की है, और इसे एक धर्म-दूषण नाम देकर ८ क्रोधज व्यसनों में एक माना है। अतः अपव्यय से बचकर धन को जनता के हित में लगाना चाहिए।

(४) दयानन्द ने कुल आय का ३० प्रतिशत अंश रक्षा-व्यवस्था के लिए रखा है। आजकल हमारी सरकार १६८० करोड़ रुपये सुरक्षा पर व्यय कर रही है, जो कि बजट का लगभग ३१ प्रतिशत है। देश की सुरक्षा के लिए मेरे विचार में यह राशि और भी बढ़ायी जा सकती है।

(५) दयानन्द ने कुल आय का १० प्रतिशत धन स्थान-विशेष के लिए निर्धारित किया है। स्थान-विशेष से अभिप्राय कुछ संस्थाओं को अनुदान तथा भवन निर्माणादि से हो सकता है। यातायात के साधन, डाक, व्यापार और कृषि की उन्नति आदि शेष सभी व्यय इसमें समाविष्ट किए जाने चाहिएँ। वर्तमान युग में अन्य भी अनेक प्रकार के विभाग हैं। उन सब का व्यय इसमें से निकालना चाहिए और यदि कम हो तो स्थिर कोश के व्याज से इसका कार्य चलाएँ। स्थान-विशेष के लिए निर्धारित धन हम राज्यों को भी अनुदान रूप में दे सकते हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्धारित बजट को देखने से स्पष्ट है कि बजट का अधिकांश धन शिक्षा, निर्धन वर्ग तथा सुरक्षा-व्यवस्था पर व्यय होना चाहिए। राष्ट्र के लिए यही प्राथमिकताएँ होनी अभीष्ट हैं।

पारिवारिक बजट

महर्षि दयानन्द ने पारिवारिक बजट के सम्बन्ध में भी एक-आध निर्देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिए हैं। उनका कथन है—अपने व अपने कुटुम्ब का नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करें।[1] इसका अर्थ यही है कि परिवार को भी अपना दैनिक और पारिवारिक बजट बना कर चलना चाहिए। जितनी चादर हो, उतने ही पैर वह फैलावे। आय से अधिक व्यय मनुष्य को विपत्ति में ला खड़ा कर देता है। आज परिवारों की दुर्दशा का एक बड़ा कारण इसी पारिवारिक बजट न बनाने की नासमझी है। महर्षि दयानन्द ने इस पारिवारिक बजट का विशेषण नैमित्तिक दिया है। जिसका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यय सकारण हो। फ़ज़ूल-खर्ची को अपने बजट में कोई स्थान न दे। पारिवारिक आर्थिक कठिनाई का एक बड़ा कारण फ़ज़ूलखर्ची है। अतः पारिवारिक बजट बनाने का प्रशिक्षण अनिवार्य है। इस पारिवारिक बजट से मध्यम वर्ग के परिवारों का व्यय संतुलित हो सकता है।

पारिवारिक बजट के सम्बन्ध में दयानन्द का दूसरा वाक्य है—सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करे, किन्तु विवाह, मृत्यु आदि में न करे।[2] अर्थात् धन का व्यय (१) अपने पुत्र और पुत्री की शिक्षा में करे। (२) उनके विवाह में न करे और न (३) घर में किसी वृद्ध की मृत्यु आदि पर करे। विवाह में दहेज या वरी, प्रकाश और ध्वनि के झूठे प्रदर्शनों, भोजनादि मिथ्या-डम्बरों में न फँसे। यह राजाज्ञा होनी चाहिए कि विवाहादि में प्रकाश, नृत्य, भोज आदि नहीं होंगे। दहेज को संभवतः हम कानूनों से न रोक पाएँ इसके लिए सामाजिक क्रान्ति का प्रयत्न करना होगा। इसी प्रकार मृत्यु पर भी हमारे देश में अनावश्यक रूप से बहुत व्यय करने की रूढ़ि है। इस पर रोक लगानी होगी। ब्राह्मणों, कन्याओं को दान देना बन्द करना होगा। यदि देने का सामर्थ्य है तो किसी शिक्षा-संस्था को दान देने की परम्परा डालनी होगी।

सेवा-निवृत्त एवं दण्डित कर्मचारी

उदयपुर के महाराजा को लिखे विशेष नियमों में महर्षि दयानन्द ने 'सेवा-निवृत्त कर्मचारी' के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की है—'जो प्रीतिपूर्वक धर्मात्मा से ३० वर्ष तक राज-कार्य करे उनको आधी नौकरी जब तक वे जीवें

१-२. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७३। (३३, २१वाँ नियम)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवे। यदि संग्रामादि में जिसकी मृत्यु हुई हो उसकी स्त्री, पुत्रों को भी उसी प्रकार देवे। यावत् उनके पुत्र समर्थ न हों। जब समर्थ हों तब उनके पुत्रों को यथायोग्य अधिकार देवे। परन्तु उसकी स्त्री को योगक्षेमार्थ यथोचित जब तक वह जिए सदा दिया करे। यदि वह पाँच रुपए मासिक पाता हो तो पूरा देवे। पुत्रों के समर्थ हुए पर स्त्री को आधा देवे।"[1] दयानन्द के ये विचार अत्यन्त व्यावहारिक हैं। इसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया है—

(क) सेवा-काल ३० वर्षों का हो, इससे अधिक नहीं।

(ख) सेवा-निवृत्त होने पर आधा वेतन 'पेन्शन' रूप में मिले, ताकि उस का जीवन-यापन हो सके। उसका उपयोग शिक्षा आदि क्षेत्रों में किया जाए।

(ग) ३० वर्ष पूर्ण करने से पूर्व ही संग्रामादि (आदि से स्पष्ट है कि संग्राम के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी) में मृत्यु हो जाए तो भी उनकी पत्नी, पुत्रादि को तब तक सहायता दी जाए जब तक वे समर्थ न हो जाएँ।

(घ) पुत्रों के समर्थ होने पर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाए। इस प्रकार म० दयानन्द ने पिता की मृत्यु के दंश को सर्वथा समाप्त कर दिया है।

(ङ) पुत्रों के समर्थ होने पर भी उनकी पत्नी को कम से कम ५०% मिलता रहे जब तक वह जीवित है। अथवा यदि उसे उसकी योग्यता की कोई नौकरी भी दी जा सकती है।

(च) यदि वह पाँच रुपए (जो कि आज कम से कम ५०० रु० होंगे) पाता हो तो पूरा दिया जाए। इस प्रकार विधवा स्त्री को जीवन-निर्वाह की प्रत्येक समस्या से मुक्त कर दिया गया है। म० दयानन्द के ये विचार आज भी सेवा-निवृत्त व्यक्ति के लिए बनाए नियमों के लिए उपयोगी हैं।

महर्षि दयानन्द की इसी प्रसंग की एक अन्य उदार स्थापना भी उल्लेखनीय है। वे एक ओर अपने अपराधी कर्मचारी को दण्डित करना चाहते हैं,[2] तो दूसरी ओर उसे किसी भरण-पोषण की कठिनाई में नहीं रखना चाहते। अपराध के कारण सेवा-कार्य से मुक्त कर देने पर भी उनकी व्यवस्था है कि—"जितने से (पूरा वेतन नहीं) उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली-भाँति हो,

---

१. देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७२।

२. देखिए, प्रस्तुत पुस्तक में 'न्याय-व्यवस्था' शीर्षक अध्याय में 'दण्ड-व्यवस्था'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वे भली-भाँति धनाढय भी हों, उतना धन वा भूमि राजा की ओर से मासिक व वार्षिक अथवा एक बार मिला करे। और जो वृद्ध हो उनको भी आधा मिला करे। परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे, पश्चात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार व नौकरी उनके के गुण के अनुसार अवश्य देवे और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सबके निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री व लड़के कुकर्मी हो जाएँ तो कुछ भी न मिले, ऐसी नीति राज्य बना कर रखे।'[1]

दान अथवा पुरस्कार में दिए धन व मूल्य की शर्तें

महर्षि दयानन्द की यह निश्चित मान्यता थी कि यदि कर्मचारी कार्य ईमानदारी से और अच्छा करे तो उसे पारितोषिक मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त धर्मार्थ अथवा शिक्षा के प्रचारार्थ भी धन, भूमि आदि किसी संस्था को या व्यक्ति को दान रूप में देनी चाहिए। पर दान अथवा सहायता रूप में प्राप्त धन के दुरुपयोग होने की भी संभावना रहती है। अतः इस सम्बन्ध में दयानन्द की निम्नलिखित स्थापनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—

—जिस किसी के मासिक धन वा भूमि धर्मार्थ अथवा गुणानुसार कुछ भी देवे वह यावत् माननीय जीवे व अन्यथा न बर्ते तावत् वह दान रहे, पश्चात् नहीं।[2]

—यदि पूर्व जनों ने इसके विपरीताशय लेखपूर्वक किया हो और उसके कुलोत्पन्न वैसा न बर्तते हों तो भी वह दिया न दिया हो जाये। क्योंकि वह जिस समय दिया जाता है, वह उत्तम काम के लिए होता है।[3]

—परन्तु धर्मार्थादि के लिए जो दिया हो उसके भोक्ता अन्याय से बर्तते हों, तो भी उस अंश को राजांश में न मिलावे, किन्तु कुकर्मी से छुड़ा, योग्य धर्मात्मा को उसका अधिकारी करे। यदि वह भी प्रमादी हो तो पूर्वोक्त प्रकार उससे भी ले के अन्य योग्य को, यदि उसी के कुल में योग्य न हो तो दे।[4]

—यदि उनके सन्तान पितरों से अधिक योग्य हों तो उनको अयोग्य के अंश में से अधिकांश देवे और अधिक प्रतिष्ठा करे।[5]

---

१. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १५६।

२-५ देखिए, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ ३७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है कि म० दयानन्द पारितोषिक से कर्मचारी का उत्साह और दान (अनुदान) से सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्य कराने के पक्ष में थे। पर उसका वे सदुपयोग चाहते थे। दुरुपयोग की संभावना देखकर भी उस सहायता आदि को समाप्त न कर उस कार्य को किसी अन्य व्यक्ति से पूरा करवाना चाहते थे।

शिल्प-कृषि (गौ एवं पशुपालन)

महर्षि दयानन्द अपने देश में शिल्प-विद्या की उन्नति के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील थे। अपने 'शिक्षा-व्यवस्था' ग्रन्थ में हमने उनके इस प्रयत्न पर विस्तार से विचार किया है। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे देश में उद्योगों की स्थापना करने के पक्ष में थे। आधुनिक यन्त्रों की सहायता से वे वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते थे। राष्ट्र की समृद्धि अधिक उत्पादन पर ही निर्भर है, यह वह भली प्रकार जानते थे। वे विदेशी वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं को नापसन्द करते थे, और स्वतन्त्रता की सर्वप्रथम प्रेरणा उन्होंने ही दी थी। उन्होंने देश को स्वावलम्बी अथवा आत्मनिर्भर बनने की भी प्रेरणा दी थी।[1]

भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि एवं गो-पालन का विशेष महत्त्व है। अपने परिश्रम से सम्पूर्ण राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाला किसान है, अत: वे उसे 'राजाओं के राजा' कहते थे।[2] राजा के बिना देश नहीं चल सकता है, पर किसान के बिना राष्ट्र का चलना असम्भव है। दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'गोकरुणा-निधि' में गोहत्या का विरोध केवल धर्म और अहिंसा के आधार पर नहीं किया था, वरन् इसका आर्थिक आधार भी स्पष्ट किया था।[3] यहाँ हम 'गौ के महत्त्व पर उनके विचार यथावत् उद्धृत करते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वे देश में गौ और तज्जन्य दुग्ध, घृत आदि पदार्थों के उत्पादन तथा कृषि के लिए कितने इच्छुक थे।

उन्होंने लिखा कि पक्षपात छोड़कर देखिए गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्य विद्या से जो जो विषय जाने जाते हैं, वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

---

१. देखिए, प्रस्तुत पुस्तक : 'देश की उचित व्यवस्था में महर्षि दयानन्द का योगदान' शीर्षक लेख।

२. देखिए, सत्यार्थप्रकाश पृ० १६६।

३. देखिए, दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह, पृ० ४०१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो और दूसरी बीस सेर तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है, तो दोनों का मध्य भाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध निन्यानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में छटाँक चावल और डेढ़ छटांक चीनी डालकर खीर बना खावें तो प्रत्येक पुरुष के लिए दो सेर दूध की खीर से कोई अधिक खा गया और कोई न्यून। इस हिसाब से एक एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० मनुष्य एक बार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ बार ब्याहती है। इसका मध्य भाग तेरह बार आया तो २५७४० मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूध मात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं।

इस गाय के एक पीढ़ी में ६ बछियाँ और सात बछड़े हुए, इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है तो भी बारह रहे। उन ६ बछियाओं के दूध मात्र से उक्त प्रकार के १,५४,४४० मनुष्यों का पालन हो सकता है।

अब रहे ६ बैल, उनमें एक जोड़ी से दोनों साख में २०० मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६० सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं और उनके कार्य का मध्य भाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८०० मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीन जोड़ी की है। ४८०० मन इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें तो २,५६,००० मनुष्यों का एक बार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४,१०,४४० मनुष्यों का पालन एक बार के भोजन से होता है।

अब ६ गाय की पीढ़ी पर पीढ़यों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं। देखो, तुच्छ लाभ के लिए लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं है?

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक पाँच सेर दूध देती है। इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पाँच महीने तक दूध देती है तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्य भाग चार महीने हुए। वह एक मास में सवा दो मन और चार मास में नौ मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूध से एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो बार ब्याहती है। इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक बार भोजन से ३६० मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ वर्ष तक ब्याहती है। इसका मध्यभाग ६ वर्ष हुआ तो जन्म भर के दूध से ३१६० मनुष्यों का एक बार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके बच्चा, बच्ची मध्य भाग से २४ हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून और अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याहती है। उनमें से दो का अल्प मृत्यु समझो। रहे बाईस। उनमें से १२ बकरियों के दूध से २५,६२० मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी पर पीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और बकरा-बकरी और भेड़-भेड़ी के ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े-बड़े सुख-लाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कम होता है तथापि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख-लाभ होते हैं।

जैसे भैंस-भैंसा, ऊँट-ऊँटनी से लाभ होते हैं वैसे ही घोड़े-घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सूअर, कुत्ता, मुर्गा-मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं, परन्तु सबका पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा।

दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान (रोटी) दूसरा आच्छादन (कपड़ा)। इनमें से प्रथम के बिना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के बिना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

पशुओं की रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबका सुख बढ़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनसे यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूब आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो, इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० वर्ष के पूर्व मिलते थे उतना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दश गुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते तो **'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्'**, जब कारण का नाश कर दे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जाये ?

म० दयानन्द ने जिस प्रकार से हिसाब लगाया है उसकी प्रामाणिकता तो कोई पशु-विशेषज्ञ ही लगा सकता है। पर यह बहुत स्पष्ट है कि म० दयानन्द गौ तथा अन्य पशुओं की रक्षा से दूध, घी आदि तथा कृषि आदि की उन्नति करके देश में अन्न का अधिकाधिक उत्पादन चाहते थे। अधिक उत्पादन से ही देश के स्वास्थ्य में सुधार तथा महंगाई का नाश सम्भव है। जो लोग ट्रेक्टर के युग में बैल को अनुपयोगी मानते हों, उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि जब तक हमारे देश की एक इंच भूमि भी ऊसर रहेगी, तब तक बैल की आवश्यकता रहेगी। अतः कृषि के अधुनातम साधनों के साथ पुरातन साधनों की आज भी आवश्यकता है। सिंचाई की छोटी योजनाएँ, बाढ़-नियन्त्रण, उत्तम खाद, बीज, कीट-नाशक दवाएँ तथा उनके उत्पादन का उचित मूल्य—ये सभी कृषि की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि एक तो निर्धन किसान ट्रेक्टर तथा नये खादों से लाभ उठाने में समर्थ नहीं हैं। दूसरे थोड़ी भूमि बैलों से जोती जा सकती है, न कि ट्रेक्टर से, और तीसरे, नये खादों के साथ गोबर आदि से बने खाद की भी सदा आवश्यकता रहती है। अतः पशु-पालन अति महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त गौ और पशु-रक्षा के आन्दोलन से हमें देश में दूध, घी आदि की कमी को समाप्त करना है।

बेकारी की समस्या (असीमित उपभोग पर प्रतिबन्ध)

देश में बेकारी का भयंकर विष सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को नष्ट कर रहा है। महर्षि दयानन्द के दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार करें, तो (क) दूषित शिक्षा-प्रणाली और (ख) असीमित उपभोग, इसके कारण हैं। अतः हम यहाँ इन दोनों कारणों की मीमांसा करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) अनुपयोगी शिक्षा-प्रणाली

शिक्षा से जहाँ व्यक्ति का बौद्धिक, मानसिक एवं शारीरिक विकास होना चाहिए वहाँ उससे उसमें व्यावसायिक योग्यता उत्पन्न होनी भी आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली व्यक्ति का पूर्णतः बौद्धिक, मानसिक एवं शारीरिक विकास कर पाती है और न उसमें व्यावसायिक योग्यता उत्पन्न कर सकने में समर्थ है। इस शिक्षा-प्रणाली में पले अधिकांश छात्र शारीरिक श्रम करने में अक्षम होते हैं, जो सक्षम भी होते है, वे कुण्ठाग्रस्त होने के कारण शारीरिक श्रम करना अपना अपमान समझते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षित व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम करना उसकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। यही कारण है कि एक इन्जिनीयर मिस्त्री की तथा एक डॉक्टर कम्पाउण्डर की सहायता के बिना अपना कोई भी काम करने में असमर्थ रहता है। शारीरिक श्रम न कर सकने के कारण शिक्षित-वर्ग के लिए उपयुक्त व्यवसाय अत्यन्त सीमित हो जाते हैं। उनके न मिलने पर वे अपने को बेकार मान बैठते हैं। यदि उनमें शारीरिक श्रम करने की योग्यता अथवा इच्छा हो तो उन्हें रोज़गार के अन्य अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। म० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में शारीरिक श्रम करने की विशेष योजना है।

इस शिक्षा-प्रणाली के द्वारा पूर्ण रूप से बौद्धिक विकास न हो सकने के कारण शिक्षित-वर्ग कुछ परम्परागत सरकारी एवं ग़ैर सरकारी नौकरियों को ही ढूंढता रह जाता है। उनके न मिलने पर स्वयं कोई स्वतन्त्र व्यवसाय स्थापित करने की योजना वह नहीं बना पाता। और यदि कोई उसे सुझा भी देता है तो उसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का उसमें साहस नहीं होता। अविकसित राष्ट्रों में नये-नये व्यवसायों को स्थापित करने की आवश्यकता सदा बनी रहती है। पर सूझ-बूझ के अभाव एवं कठिनाइयों से जूझने के लिए साहस का अभाव होने के कारण व्यक्ति उन्हें प्रारम्भ करने में घबराहट का अनुभव करता है। अतः रटे हुए पाठ्यक्रम की परीक्षा के द्वारा छात्र को डिग्री देने के स्थान पर शिक्षा-प्रणाली में कुछ ऐसी योजना बनानी आवश्यक है जिससे व्यक्ति में स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता उत्पन्न हो तथा नये-कये कार्यों को आरम्भ करने का उसमें साहस हो। कुछ व्यवसायों की—जिनकी कि देश को अत्यधिक आवश्यकता हो—क्रियात्मक प्रशिक्षण देने की योजना भी बनानी आवश्यक है। छात्र का देश के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहना आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) असीमित उपभोग

ग़रीबी और बेकारी का एक बड़ा कारण असीमित उपभोग है। कुछ लोग अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण साधनों का उपभोग कर रहे हैं किन्तु अन्य गरीबी के कारण मृतक का सा जीवन बिता रहे हैं। म० दयानन्द की विचारधारा का मूलाधार 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' त्यागपूर्वक उपभोग और अपरिग्रह था।[1] उन्होंने प्राचीन वर्ण और आश्रम-व्यवस्था की स्थापना द्वारा इसी असीमित उपयोग पर रोक लगाने का प्रयत्न किया। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार उत्पादन की क्षमता वैश्य वर्ण में होती है। ऋग्वेद में वैश्य की उपमा पेट से दी गयी है। जिस प्रकार व्यक्ति का खाया सम्पूर्ण भोजन पेट स्वयं अपने पास नहीं रख लेता, वरन् उसका रक्त बनाकर सारे शरीर को दे देता है, उसी प्रकार जिनके पास उत्पादन की क्षमता है, वे उसके उत्पादन को अपने पास में न रखकर संसार के प्रत्येक वर्ग को दें। किन्तु आज तो उस उत्पादन में सहायक बनकर भी किसान उस उत्पादन का थोड़ा भी उपयोग नहीं कर पा रहे। यह विचित्र विडम्बना है। राजा की ओर से इस प्रकार की व्यवस्था होनी आवश्यक है कि सम्पत्ति किन्हीं विशिष्ट हाथों में केन्द्रित न हो जाए। यदि पेट सारा भोजन अपने पास ही रख ले, उसका रक्त बना कर सम्पूर्ण शरीर को न दे तो पेट खराब हो जाता है, और उससे सम्पूर्ण शरीर ही नष्ट हो जाता है। यही स्थिति समाज की है। यदि सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ हाथों में ही सीमित हो जाए तो इससे सम्पूर्ण राष्ट्र ही रुग्ण हो जाता है। आज हमारे देश की यही स्थिति है। इसे दूर करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाने होंगे।

बेकारी और असीमित उपभोग के उन्मूलन के लिए जो एक अन्य क्रान्तिकारी कदम उठाना अनिवार्य है वह है धन कमाने की अवधि का कम करना। प्राचीनकाल में आश्रम-व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति केवल गृहस्थाश्रम में २५ से ५० वर्ष की आयु के मध्य ही धनार्जन किया करता था। इसी आयु के मध्य ही व्यक्ति अनेक एषणाओं—वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकेषणा—की जीवन में पूर्ति करने के फिए लालायित होता है। वह इसी काल में विविध ऐश्वर्यों व भोगों की कामना करता है। किन्तु आज का व्यक्ति अपनी इस सुवर्ण आयु में बेकार रह कर अपनी एषणाओं को दग्ध कर डालता है। इस प्रसंग में कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित 'दत वाला समिति' की रिपोर्ट पर विचार करना आवश्यक है। उसके अनुसार १५ से २५ वर्ष की आयु तक के बेरोजगारों के कारण देश

---

१. देखिए, हमारी पुस्तक 'समाज-व्यवस्था' में वैश्य वर्ण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विस्फोट-स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। पर प्रश्न है कि यह समय तो उसकी शिक्षा प्राप्त करने का समय है। शिक्षा की पूर्ण सुविधाएँ न होने के कारण ही उन्हें बेकारी का अनुमान हो रहा है। उन्हें शिक्षा की सुविधाएँ जुटा देने से देश को विस्फोट-स्थिति से बचाया जा सकता है।

मेरा विचार है कि शिक्षा-क्षेत्र को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में सेवाकाल २५ वर्ष से ५०-५५ वर्ष की आयु तक ही होना चाहिए। इस समय छात्र प्रायः २२ वर्ष की अवस्था में एम. ए. उपाधि प्राप्त करते हैं। यदि तीन वर्ष सैनिक शिक्षा एवं दो वर्ष राष्ट्र-सेवा अथवा किसी उत्पादक-कार्य के लिए बढ़ा दिये जायँ (इन वर्षों में होने वाला व्यय सरकार स्वयं वहन करे यों तो सम्पूर्ण शिक्षा का ही वहन करना चाहिए) तो उनकी अवस्था २५ वर्ष हो जाएगी। उधर ५० अथवा ५५ वर्ष की अवस्था के उपरान्त अथवा घर में किसी एक कमाऊ सदस्य के आ जाने के उपरान्त व्यक्ति को अपनी नौकरी छोड़कर शिक्षा के क्षेत्र में आ जाना चाहिए। शिक्षा के क्षेत्र में वेतन केवल इतने ही हों जिनसे जीवन-निर्वाह ठीक हो सके। ५०-५५ वर्ष की आयु के बाद भी उच्च पदों से न हटने के कारण राष्ट्र युवा प्रतिभाओं का उपयोग नहीं कर पा रहा। बेकारी की समस्या का मूल कारण यही है कि व्यक्ति अपनी लालच की वृत्ति के कारण देर तक नौकरी करता रहना चाहता है। मेरी सम्मति में राजनीति एवं व्यापार के क्षेत्र में भी ५०-५५ वर्ष के उपरान्त व्यक्ति को किसी उच्च पद पर नहीं रहना चाहिए, शिक्षा-क्षेत्र में रहकर ही वे राजनीति अथवा व्यापार का संचालन अथवा निर्देशन करते रहें। हमारा विश्वास है कि यदि हम केवल २५-३० वर्ष तक सेवाकाल निश्चित कर लें तो बेकारी की समस्या का उन्मूलन हो सकेगा।

इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट करनी भी अनिवार्य है कि व्यापार, राजनीति एवं आई. ए. एस. आदि राजकीय नौकरियों में अधिक आकर्षण होने के कारण अनेक प्रतिभा-सम्पन्न लोग शिक्षा के क्षेत्र में न आकर उधर चले जाते हैं। यदि उक्त व्यवस्था कर दी गयी तो इन प्रतिभा-सम्पन्न लोगों का शिक्षा के क्षेत्र में भी उपयोग हो सकेगा। एम. ए. के उपरान्त जब किसी युवक को एकदम अध्यापक अथवा प्राध्यापक बना दिया जाता है तो उसके पास केवल पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त छात्र को देने के लिए कुछ नहीं होता। जब तक पुस्तकीय ज्ञान के साथ सांसारिक अनुभव का मेल न हो जाए तब तक ज्ञान अपूर्ण रहता है। उक्त व्यवस्था कर देने से बेकारी की समस्या भी दूर होगी तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किया जा सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृद्धावस्था में जो लोग अतुल धनराशि कमाने में लगे हुए हैं तथा राजनीति के क्षेत्र में जो उच्च पदों पर आसीन हैं उन्हें हमारे इस सुझाव से निराशा होगी और वे राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके इस सुझाव के विरोध में कुछ तर्क प्रस्तुत करेंगे। उनकी सबसे प्रमुख आपत्ति यह हो सकती है कि व्यक्ति ५०-५५ वर्ष की आयु तक तो परिपक्व होता है। उसके बाद उनके हट जाने पर जिन् लोगों के हाथों में काम आएगा वे अनुभव-शून्यता के कारण सफलता-पूर्वक काम नहीं कर पाएँगे। दूसरे शब्दों में, वे युवा वर्ग की शक्ति, कार्य-क्षमता एवं निष्ठा पर अविश्वास प्रकट करेंगे। किन्तु हमारी सम्मति में उनकी यह आपत्ति निर्मूल है। एक तो युवा व्यक्ति भावुक होने के कारण (कभी-कभी अनुभव-शून्यता के कारण भी) वृद्ध व्यक्तियों की तुलना में कम बेईमानी करते हैं, दूसरे उनकी कार्य करने की शक्ति अधिक होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि हम ५०-५५ वर्ष की आयु के उपरान्त व्यक्ति को धन कमाने से वञ्चित करना चाहते हैं न कि उसके अनुभवों से लाभ उठाने के विरोध में हैं। प्रत्येक कार्य का मूल्यांकन धन से ही करने वाले लोगों को मेरे इस सुझाव पर शंका हो सकती है। किन्तु व्यक्ति प्रतिष्ठा अथवा सम्मान को धन से भी अधिक मूल्यवान् समझता है। प्राचीन काल में पद और ऐश्वर्य की दृष्टि से राजा का अधिक महत्त्व था किन्तु अनुभव एवं आयु में वृद्ध मन्त्रियों की अथवा कुल-गुरुओं तथा कुल-पुरोहितों की प्रतिष्ठा उनसे भी अधिक थी। राजा उनकी कोई भी बात टाल नहीं पाता था। ऐश्वर्य के मद में कोई राजा यदि उनकी अवहेलना करता था तो प्रजा उस राजा के ही विरुद्ध हो जाती थी। आज भी अवकाश-प्राप्त व्यक्ति एक ओर शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करे तथा साथ-ही वे जिस-जिस क्षेत्र में विशेषज्ञ हों उस-उस क्षेत्र में सलाहकार के रूप में उनकी नियुक्ति हो। उनकी सलाह का वह क्षेत्र पूरी तत्परता से पालन करे। अधिकार की दृष्टि से वे उच्च वेतन प्राप्त करने वाले लोगों से अधिक मान्य हों। वृद्ध व्यक्तियों का ज्ञान एवं युवा-व्यक्तियों की क्रिया राष्ट्रीय कार्यों को अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकेंगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

बेकारी के उन्मूलन के लिए एक अन्य बात पर भी विचार किया जा सकता है। जिन व्यक्तियों की आय १००० रु० से ऊपर है उनकी पत्नियो को अथवा अविवाहित बच्चों को, जो कि उनके अधीन हों, नौकरी न दी जाए, और यदि योग्यता के आधार पर देनी आवश्यक समझी जाए तो उन पर आयकर काफी अधिक लगा दिया जाए। प्रायः यह देखा गया है कि उच्च वेतन-प्राप्त अधिकारी अपने अधिकार के बल पर अपने परिवार के प्रत्येक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्य को नौकरी दिला देता है। इस वृत्ति पर किसी सीमा तक नियन्त्रण करना आवश्यक है। केवल उन्हीं स्त्रियों को नौकरी देनी चाहिए जिनको आर्थिक कष्ट हो। इससे एक ओर घरेलू वातावरण में सुधार होगा, तथा साथ-ही देश की बेकारी समस्या पर भी विजय प्राप्त की जा सकेगी। निष्कर्षतः, बेकारी का उन्मूलन अथवा राष्ट्रीय सम्पत्ति का समान-वितरण हमारी सभी घरेलू समस्याओं में सबसे प्राथमिक समस्या होनी चाहिए। इस समस्या का समाधान राष्ट्रीय दृष्टिकोण से करना चाहिए, न कि किसी विशेष व्यक्ति अथवा वर्ग के हितों को ध्यान में रखते हुए।

इस प्रकार इस अध्ययन में हमने महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ-व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। हमारे विचार में उनके द्वारा बताये गये सिद्धान्तों में यदि हम युगानुकूल परिवर्तन एवं परिवर्धन कर उन पर आचरण करें तो हमारा देश उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ न्याय-व्यवस्था

राज्य-व्यवस्था में न्याय-व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। जिस राज्य में न्याय की समुचित व्यवस्था नहीं होती, उस देश के निवासी सुखपूर्वक जीवन नहीं बिता पाते। सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था राज्य में बढ़ती अव्यवस्था को समाप्त कर, प्रजा की दुष्टवृत्ति को विनष्ट कर, उस राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को नियमों, तथा विधि-विधानों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है।

न्याय-व्यवस्था के दो अंग हैं—(१) न्यायाधीश द्वारा अपराधी के अपराध का विश्लेषण कर उसके लिए उपयुक्त दण्ड का विधान, तथा (२) निर्धारित दण्ड के अनुसार अपराधी को दण्डित करना। म० दयानन्द की व्यवस्था के अनुसार प्रथम अंग धर्मार्थ सभा के अधीन हैं तथा द्वितीय राज्य सभा के। न्याय के ये दोनों ही अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

न्याय का आधार

जॉर्ज ह्वाइट क्रॉस पैटन के ग्रन्थ 'ए टेक्स्ट बुक ऑफ ज्युरिस्प्रुडेन्स' में न्याय के तीन आधारों का वर्णन है—(१) शुद्ध वैधानिक सिद्धान्त (लीगल पौजिटिविज्म)। इसके अनुसार न्यायाधीश केवल राज्य द्वारा बनाए नियमों की व्याख्या और उनके विश्लेषण के आधार पर निर्णय करता हे। (२) ऐतिहासिक विकास एवं सामायिक सिद्धान्त (हिस्टारिकल एण्ड सोशिओलॉजिकल स्कूल)। इस के अनुसार ऐतिहासिक परम्परा से निर्मित सार्वजनिक प्रथाओं के आधार पर न्यायाधीश न्याय करता है। (३) प्राकृतिक विधि-सिद्धान्त (नैचुरल लॉ स्कूल)। इसके अनसार कोई सार्वभौम व्यवस्था सब मनुष्यों को शासित करती है। न्याय-व्यवस्था मनुष्यों को उन स्वाभाविक अधिकारों को दिलाती है, जिनसे उन्हें वञ्चित नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म० दयानन्द की मान्यता के अनुसार न्यायाधीश सभाओं द्वारा निर्मित नियमों के आधार पर न्याय करता है। किन्तु सभाओं द्वारा निर्मित न्याय के नियम सामाजिक एव सार्वभौम नियमों का अतिक्रमण नहीं करते। सबसे बड़ी बात यह कि न्यायाधीश स्वयं धर्मार्थ सभा का प्रधान होने से उन नियमों का निर्माता भी होता है। न्यायाधीश की नियुक्ति सभाओं के सभासद् एवं राज्य ही करते हैं।[1]

किन्तु जब वह न्याय के आसन पर बैठता है, तब वह सर्वथा निष्पक्ष होकर बने नियमों के ही आधार पर न्याय करता है। यदि उसे उन नियमों में कुछ कमी प्रतीत होती है तो वह उस कमी को दूर करने के लिए नया कानून बन-वाने अथवा उसमें संशोधन करने का परामर्श देता है।

यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण अत्यन्त अनिवार्य है कि राजार्य, विद्यार्य तथा धर्मार्य सभा ये तीनों मिलकर राज्य के लिए आवश्यक विधि-विधानों का निर्माण करते हैं। किन्तु उन विधि विधानों के आधार पर धर्मार्य सभा तथा उसका प्रधान न्यायाधीश सर्वथा स्वतन्त्र होकर अपना न्याय-कार्य करता है।

न्यायाधीश की परिभाषा

म० दयानन्द ने न्यायाधीश की परिभाषा करते हुए कहा कि जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य को ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे, सो यायकारी है, उसको मैं भी मानता हूँ।[2] इस प्रकार दयानन्द ने न्याय में तीन बातों पर बल दिया है—

(१) असत्य का नाश कर सत्य की स्थापना,

(२) अन्याय को हटाकर न्याय की वृद्धि, तथा

(३) न्याय में मानवीय दृष्टिकोण अर्थात् अपराध के कारण, अपराधी की विवशता, मानवीय दुर्बलता आदि सभी बातों को ध्यान में रखकर न्याय करे।

अभिप्राय यह कि न्याय-व्यवस्था कोई जड़ व्यवस्था नहीं है, जो कि केवल

---

१. स० प्र०, पृ० १६७।

२. स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बने-बनाए कानून के आधार पर न्याय कर दे। यदि उस नई परिस्थिति में हुए अपराध के कारण अपराधी की अपराध-वृत्ति प्रकट नहीं होती, अथवा उसमें सत्य और न्याय इन दोनों तत्त्वों का हनन होता है, तो वह बना हुआ कानून (वह कानून मनुष्य-कृत ही है, ईश्वर-कृत नहीं) बदला भी जा सकता है। न्यायाधीश कानून के निर्माताओं को उसे बदलने के लिए कह सकता है।

सत्य और न्याय का समन्वित नाम धर्म है। म० दयानन्द कहते हैं जो पक्षपात-रहित न्यायाचरण, सत्य-भाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों (मानवीय कर्त्तव्य) से अविरुद्ध है उसको धर्म, और जो पक्षपात-सहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद-विरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।[1]

म० दयानन्द ने न्याय-व्यवस्था द्वारा इसी धर्म की रक्षा करने की प्रेरणा दी है—

—जिस धर्मार्थ सभा में सभासदों (फ़ुलबेञ्च) के सम्मुख अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य भाग जाता है, उस सभा में सभी मृतक के समान हैं।

—जो न्यायाधीश धर्म का हनन कर देता है, वह मानो स्वयं मर जाता है, और जो धर्म की रक्षा करता है वह मानों स्वयं रक्षित रहता है।

—ऐश्वर्यवर्द्धक और सुखदायक किन्तु धर्म-नाशक न्यायाधीश वृशल अर्थात् नीच माना जाता है।

—म० दयानन्द ने न्यायाधीश को सम्बोधित करते हुए कहा है कि इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है और सब पदार्थ वा संगी शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।[2]

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश, धर्म की परिभाषा।

२. (क) यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥

(ख) धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(ग) वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥

(घ) शरीरेण समन्नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति।
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः॥ मनु०, स०प्र०, पृ०१६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार न्यायाधीश धर्म का रक्षक है। अतः धार्मिक व्यक्ति ही न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठ सकता है।

न्याय की शीघ्र व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था में न्याय की शीघ्र व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्व है। आजकल पहले तो कोई व्यक्ति न्यायालय जा नहीं पाता, न्याय-व्यवस्था इतनी महंगी और मनुष्य को परेशान कर देने वाली है कि व्यक्ति वहाँ जाना उपयुक्त नहीं समझता। और यदि चला भी जाए तो उसका विवाद वर्षों लटकता रहता है, तब तक उसके प्रति हो रहा अन्याय बना रहता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न्याय का सस्ता एवं सुगम होना अत्यन्त आवश्यक है। पहले तो देश में प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्याय सुलभ होना चाहिए, अन्यथा निर्धन व्यक्तियों के लिए तो इसकी व्यवस्था करनी ही चाहिए।

म० दयानन्द का राजा को आदेश है कि सदा बलवान् और राजपुरुषों से सताए हुओं की पुकार यदि भोजन पर भी बैठे हो तो भोजन को भी छोड़ के उनकी बात सुननी और उनका यथोचित न्याय करना चाहिए। ऐसा न होवे कि निर्बल, अनाथ लोग बलवान् और राजपुरुषों से पीड़ित होके रुदन करें, और उनका अश्रुपात भूमि पर गिरे कि जिससे सर्वनाश हो जावे। और इनकी रक्षा से सब प्रकार की उन्नति अर्थात् शरीरारोग्य, आयु-वृद्धि, धन-वृद्धि, राज-वृद्धि, धर्म-वृद्धि और प्रताप-वृद्धि से सदा करते रहिए।[1]

न्यायाधीश : न्याय की कुर्सी पर

म० दयानन्द ने न्यायाधीश को न्याय की कुर्सी पर बैठते हुए निम्नलिखित निर्देश दिए हैं—

(१) न्यायाधीश जब न्याय-स्थान पर जावे तब सब प्रजास्थ वादी, प्रतिवादी, साक्षी, राजपुरुष, सम्प्रेक्षक आदि मनुष्यों को प्रसन्न-वदन कृपा-दृष्टि से आनन्दित करे। दक्षिण हाथ उठाकर सबको स्वास्थ्य अभयदान दे।[2] न्याय की कुर्सी पर बैठते हुए न्यायाधीश का प्रसन्न होना, और सबके प्रति उसकी कृपा दृष्टि का होना न्याय के लिए आवश्यक है। वादी, प्रतिवादी, साक्षी और वकील न्यायाधीश के सम्मुख तभी बिना किसी झिझक के अपनी बात प्रस्तुत कर पाते हैं जब न्यायाधीश उपर्युक्त व्यवहार द्वारा तनाव-शून्य वातावरण बनाता है।

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० ४५० ।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३६६ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) न्यायासन पर बैठ सर्वव्यापक यथावत् न्यायकारी अन्तर्यामी की मन से नेत्रोन्मीलन करके प्रार्थना करे कि हे परमेश्वर, आपकी कृपा-दृष्टि हो जिससे मैं चाहता हूं कि कभी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि के वश में होके अन्याय न करूँ। ऐसा अनुग्रह आप भी कीजिए। परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रखे कि सब कामादि और अन्याय में फँसाने वाला लोभ है। उसको अपने से और आप उससे सदा दूर रहे।[1] अनेक वादी-प्रतिवादी घूस आदि दे कर न्यायाधीश को लोभ के वशीभूत करके उसे ठीक न्याय करने से रोकते हैं। न्यायाधीश इस प्रकार के लालच में नहीं आता, किन्तु फिर भी अपने संकल्प को दृढ़ करने के लिए परमात्मा का स्मरण कर लेना आवश्यक है। जिस प्रकार आज भी कटघरे में खड़े वादी, प्रतिवादी, साक्षी आदि सभी से परमात्मा या गीता आदि की शपथ दिलाई जाती है उसी प्रकार न्यायाधीश, वकील आदि के लिए भी ईश्वर का स्मरण उपयोगी है।

(३) उस समय न किसी का शत्रु, न किसी का मित्र तथा उदासीन बने। किन्तु समदृष्टि कि जैसा पक्षपात छोड़ परमेश्वर व आप्त पुरुष सबके साथ वर्तता है, वैसे बर्ते।[2] म० दयानन्द का उसे स्पष्ट आदेश है कि वह किसी का पक्षपात कभी न करे।[3] न्यायाधीश की कुरसी पर बैठकर पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो, जो स्व-धर्म में स्थित नहीं, वह अदण्डित नहीं होता, अर्थात् जब न्यायासन पर बैठ कर न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे।[4] साथ ही यह भी कहा है कि चाहे कोई कितनी ही प्रार्थना करे या करोड़ रुपए भी देकर भी अन्याय कराना चाहे तो भी कभी अन्याय न करे।[5] यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय करना चाहे तो उनको राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझावें कि आप अन्याय मत कीजिए, यदि न माने तो उसको पदच्युत करके जो न्यायास्पद के योग्य पुरुष हो उसको न्यायाधिकारी करें। परन्तु यह काम पक्षपात-रहितता से होना उचित है। क्योंकि राज्य और विद्या, तथा धर्म की वृद्धि और अधर्म की हानि के लिए सब प्रतिष्ठा है, प्रमाद के अर्थ नहीं।[6]

१,२. म० दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३६६।

३. स० प्र०, पृ० १६८।

४. पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्र पुरोहितः।
नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥
मनु० सं० प्र०, पृष्ठ १७३

५,६. म० दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७० ३१३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायालय में आए विवाद (मुकदमे)

सभा और राजा द्वारा नियुक्त अथवा मनोनीत राजपुरुष (न्यायाधीश और उसकी सभा) देशाचार और शास्त्रव्यवहार हेतुओं में विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करे।[1] न्यायाधीश दीवानी और फौजदारी तथा रेवेन्यु के निम्नलिखित १८ विवादों का निर्णय करे।[2] १८ से अतिरिक्त विवाद आयें तो उनका भी वह निर्णय करे।[3]

(क) **दीवानी विवाद**—(१) ऋणादान, किसी से ऋण लेने का विवाद (२) दायभाग, अपने पिता द्वारा प्राप्त भाग को न प्राप्त करने पर उक्त विवाद (३) पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा (आर्थिक) (४) क्रय-विक्रयानुशय लेन-देन का झगड़ा आदि अनेक दीवानी विवाद हैं।

(ख) **फौजदारी विवाद**—(१) निक्षेप, किसी ने धरोहर न लौटाई हो (आजकल भारतीय दण्डसंहिता धारा ४०३ एवं ४०६) (२) दत्त-स्थापन-कर्म्म दिए हुए पदार्थ का न लौटाना (धारा ४०३ एव ४०६) (३) वेतनस्यैव चादानम्, वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से लेना व कम देना (निजी सेवा में धारा ४०६ तथा सार्वजनिक सेवा में ४०८ तथा ४०९) (४) अस्वामीय, दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे (आजकल धारा ४०६-४०९) (५) **संभूय च समुत्थानम्**—मिल-मिला के किसी पर अत्याचार करना (धारा १२० षडयंत्र अथवा १०९) (६) किसी को कठोर दण्ड देना (७) प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्यवहार (४०६-४०८) (८) कठोर वाणी बोलना (मानहानि धारा ५००) (९) चोरी (३७९ और ३८०) तथा डाका मारना (३९०, ३९२) (१०) किसी काम को बलात् से कराना (४८) (११) जड़ एवं चेतन पदार्थ को दाँव पर रखकर जूआ खेलना (गेम्बलिंग एक्ट) (१२ किसी स्त्री व पुरुष का व्यभिचारी होना (धारा ४९७) तथा (१३) स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में व्यतिक्रम होना, ये सब फौजदारी विवाद हैं।

(ग) **रेवेन्यू विवाद** अर्थात् धन आदि विषयक विवाद। इस प्रकार म० दयानन्द ने कुल १८ विवाद गिनाए हैं, पर साथ ही यह भी कहा है

१: स० प्र० १६७।

२. म० दयानंद के पत्र और विज्ञापन पृ० ३६८।

३. स० प्र०, पृ० १६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ये विवाद अनेक हो सकते हैं।[१]

न्यायालय में वादी और प्रतिवादी

सामान्यतः राज्य का वातावरण ऐसा हो कि किसी को न्यायालय में जाना ही न पड़े। सम्पूर्ण समाज में सत्य और न्याय का वातावरण हो। विशेष रूप से धार्मिक मनुष्य यथासंभव न्याय-सभा में न जाए, प्रवेश करना ही पड़े तो सदा सत्य बोले। सभा में अन्याय होता देखे (और उसका प्रतिकार न कर सके) तो मौन रहे। यदि वह सत्य न्याय के विरुद्ध बोले तो महापापी होता है।[२] इस प्रकार सत्य और धर्म की रक्षा ही म० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित न्याय-व्यवस्था का उद्देश्य था।

सांक्षी

न्याय-व्यवस्था में साक्षी का विशेष महत्त्व है। बिना साक्षी के न्याय की प्रक्रिया अपूर्ण समझी जाती है, अर्थात् यदि साक्षी न हो तो अपराधी को दण्ड देने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

सन् १८७२ में सर जेम्स फ़िट्ज जेम्स द्वारा प्रस्तुत साक्षी-सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं – (१) साक्षी विचाराधीन विवाद से मर्यादित होना चाहिए (२) सुनी सुनाई साक्ष्य को स्वीकार नहीं करना चाहिए। (३) प्रत्येक मुकदमें में सर्वोतम साक्षी प्रस्तुत की जानी चाहिए। साक्षी-विधेयक द्वारा यह निर्णय लेना चाहिए कि (१) प्रस्तुत साक्षी विश्वसनीय है या नहीं? (२) साक्षी के किसी पक्ष-विशेष को लिखित प्रमाण की आवश्यकता है या नहीं?

---

१. (क) तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपो स्वाम्विक्रयः।
संभूयश्च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
(ख) वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
(ग) सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्री-संग्रहणमेव च॥ मनु०
स० प्र०, पृ० १६८।
(घ) स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ मनु०
स० प्र०, पृ० १६७-१६८।

२: सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी॥ मनु०, स० प्र०, पृ० १६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा (३) साक्षी-विशेष द्वारा तथ्य-विशेष प्रमाणित होता हैं या नहीं? ये निर्णय देश, काल तथा के अधिकार के आधार पर संभव है।

साक्षी के सम्बन्ध में कुछ नैतिक मान्यताएँ भी हैं। वह न किसी के दबाव में आए और न बिके। वकील का उससे व्यवहार ऐसा ही हो कि वह भयभीत न हो। वकील के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह उसे तोड़ने की कोशिश न करे। अभिप्राय यह कि न्यायालय का वातावरण ऐसा हो कि साक्षी को सत्य बात प्रकट करने में सुविधा हो। सामान्यतः, पढ़ा लिखा साक्षी अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

महर्षि दयानन्द ने साक्षी के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं वे आज भी उपयोगी हैं। उनके अनुसार साक्षी दो प्रकार के होते हैं—

(१) जिन्होंने अपराध को देखा हो,

(२) जिन्होंने अपराध के विषय में कुछ सुना हो।[१]

म० दयानन्द की मान्यता है कि धार्मिक, विद्वान्, निष्कपट, धर्मवेत्ता, लोभरहित एवं सत्यवादी व्यक्ति ही साक्षी हो सकता है।[२] पर आज की न्याय-व्यवस्था में साक्षी के लिए किसी भी गुण का उल्लेख नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति साक्षी बनकर आ सकता है। परिणामतः, कुछ लोगों ने साक्ष्य देने का व्यवसाय बना लिया है।

म० दयानन्द द्वारा साक्षी के लिए निर्धारित गुणों का होना आज प्रायः असंभव है। पर फिर भी साक्षी के लिए किन्हीं व्यक्तिगत गुणों की जानकारी न्यायालय के पास रहनी आवश्यक है।

शपथ

साक्षी की अन्तरात्मा को जगाने केलिए उसे कोई शपथ दिलानी आवश्यक है। न्यायालय के भव्य वातावरण में साक्षी या वादी, प्रतिवादी की अन्तरात्मा को जगाया जाए तो उसका ईमान उभर आता है, और यदि वह सिखाया हुआ साक्षी न हुआ तो वह प्रायः सत्यवादी आचरण करता है। म० दयानन्द केहते हैं कि साक्षी को यह जता देवें कि मिथ्या बोलने, मानने और करने वाले को इस जन्म और परजन्म में सुख व प्रतिष्ठा नहीं होती। और देखो, थोड़े से जीवन में धर्मात्मा अर्थात् सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी

---

१. समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति। मनु०, स० प्र०, पृ० १७०।

२. आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कायेषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्॥ मनु०, स० प्र० पृ० १७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फलों को प्राप्त होता और मिथ्यावादी, मिथ्यामानी, अनृतकारी सर्वदा दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए किसी को आत्मा और परमेश्वर के मिथ्याभाषणादि से शत्रु न बनना चाहिए। जैसा कुछ तुम्हारे आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोलो।[1]

उसके बाद वादी और प्रतिवादी दोनों के सम्मुख न्यायाधीश व प्राड्विवाक (वकील) कहे—हे साक्षि लोगो, इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम ज़ानते हो उसको सत्य के साथ बोलो, क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है। जो साक्षी सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और जो असत्याचरण करता है वह निन्दित होता है। हे साक्षि ! तू झूठी साक्ष्य देकर अपने आत्मा का अपमान न कर। तेरे हृदय में अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है। उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर।[2] आज भी साक्षी न्यायधीश के सम्मुख परमात्मा अथवा गीता की शपथ ग्रहण करके सत्य बोलने की शपथ खाता है। इस प्रकार की साक्ष्य का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है।

म० दयानन्द का यह भी कहना है कि सब साक्षियों को पृथक्-पृथक् रखे। दोनों, तीनों साक्षियों से पृथक्-पृथक् पूछने से उनकी सचाई की परीक्षा आसानी से होनी सम्भव है। आजकल भी इसी प्रकार से साक्षियों से अलग-बयान लिये जाते हैं।

---

१. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन पृ० ३६६।

२. (क) यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥

(ख) सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥

(ग) सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥

(घ) आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥

(ङ) यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥

(च) एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येशः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ मनु०,स०प्र०, पृ० १७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब वे कुछ भाषण करें वह सब लिपिबद्ध होना अथवा प्राड्विवाक अर्थात् बारिस्टर वा वकील जो कुछ परस्पर प्रश्नोत्तर करें उस पर ध्यान देखकर सुनें तथा लिखे। जहाँ-जहाँ पूछे उचित हो पूछे। बीच-बीच में अन्य-अन्य संवाद करके वक्र व सरलता से प्रश्न करे। यदि इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो उन पर विश्वास न करके जहाँ वह विरुद्ध कार्य हुआ हो वहाँ के सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष और स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजन से पूछकर निश्चय करे। स्त्री की साक्षी में बहुत सावधानी बर्त्ते। स्त्री पर न कोई दृष्टि डाले, न हास्य करे और न डरावे। इतने पर भी सत्यासत्य को निर्णय न हो तो गुप्त में उनको बात करते सुन अथवा धार्मिक आप्तजन दूतों के द्वारा निश्चय करे।[1]

म० दयानन्द के अनुसार निम्नलिखित साक्षियों को मान्यता दी जा सकती है।—(क) जो स्वाभाविक बात कहे। (ख) दोनों पक्षों के साक्षियों में जिस पक्ष के साक्षी अधिक मान्य और आप्त हों (ग) साक्षी में बहुपक्ष को भी बल दे। इसके विपरीत सिखाई हुई बात पर अथवा उसकी परस्पर विरोधी बातों को न्यायाधीश व्यर्थ समझे। जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे वह सब मिथ्या समझी जावे।[2] जो इन कारणों से साक्षी देवे उसे दण्डित किया जावे।[3]

निर्णय

सारा विवाद भली प्रकार सुन लेने के उपरान्त जो अपराधी हो, उसको यथायोग्य दण्ड देकर हरावे, और अनपराधी का मान्य कर जीतावे। जो हारे उस पर ताना न मारे। किन्तु ऐसा कहे कि देखो भाई, मैं तुमसे ऐसे काम करने की आशा नहीं करता था। तुमने ऐसे कुल व ऐसे के पुत्र होकर ऐसा अनुचित काम किया, इस पर मुझको बड़ा शोक है। हे भद्र, यदि तू ऐसा

---

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० १६६।

२. (क) बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
　　समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥
(ख) समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
　　तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥
(ग) स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
　　अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥ मनु०, स० प्र० पृ० १७०।
ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३६२।

३. आगे इसी अध्याय में दण्ड-व्यवस्था में साक्षी को दंड' देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम न करता तो ऐसे दण्ड को प्राप्त क्यों होता ?[1] निर्णय देने की यह पद्धति अत्यन्त मानवीय एवं मनोविज्ञान-सम्मत है ।

निर्णय सुनने पर कोई अपराधी अपने सन्तुलन को खो बैठता है। और न्यायाधीश को बुरा-भला कहने लगता है । म० दयानन्द का कहना है कि यदि कोई धूर्त वा आतुर बुरा शब्द बोले वा कुचेष्टा करे, उसे सह लेना ।[2] आज-कल इसे न्यायालय का अपमान समझ कर उसे और अधिक दण्डित किया जाता है । हमारी सम्मति में अपराधी का मनोविज्ञान आदि देखकर समय पर कुछ भी निर्णय लिया जा सकता है । न्यायाधीश अत्यन्त विवेकी होता है, वह अनावश्यक रूप से अपराधी की झुंझलाहट को बुरा न समझे। केवल अपने निर्णय पर दृढ़ रहे ।

इस प्रसंग में म० दयानन्द ने न्यायाधीश को सावधान भी किया है, और कहा है कि—अपने शरीर की रक्षा सब प्रकार से करना । और सबकी मानसी वा बाह्य चेष्टा को जानते रहना ।[3] उन्मत्त अपराधी अथवा उसका कोई मित्र या सम्बन्धी मूर्खतावश न्यायाधीश पर हमला कर सकता है, उससे सावधानी आवश्यक है । पुलिस आदि को सतर्क रहना चाहिए ।

दण्ड-व्यवस्था

म० दयानन्द राज्य में एक सशक्त दण्ड-व्यवस्था रखने के समर्थक थे । दण्ड ही पुरुष अर्थात् राजा है । वही न्याय का प्रचार-कर्ता एवं सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का संपोषक है । दण्ड-व्यवस्था के अभाव में सब लोगों में प्रकोप का जन्म होता है।[4] दण्ड की समानता एक कृष्ण वर्ण वाले एवं रक्त नेत्र वाले भयंकर मनुष्य से की गई है, जिससे प्रजा मोह-शून्य होकर अपने कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहे ।[5] दण्ड प्रजा का शासक वा रक्षक है, प्रसुप्त को जागरित करता है, विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं—

१-३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७० ।

४. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ।।
दुःष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ।।

५. यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ।। मनु०, स०प्र०, पृष्ठ १४२ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ मनु०

इस प्रकार म० दयानन्द ने दण्ड की अत्यन्त महिमा का गान किया है।[1]

किन्तु दण्ड का प्रयोग करने के लिए अत्यन्त विवेक की आवश्यकता है। सुविचारित दण्ड ही प्रजा के लिए आनन्ददायक सिद्ध होता है, अविचारित दण्ड-व्यवस्था अन्ततः राज्य का ही नाश करती है।[2] सुविचारित दण्ड-व्यवस्था के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(१) दण्ड देने वाले के हृदय की पवित्रता (२) दण्ड का उदात्त उद्देश्य (३) ठीक अपराधी को दण्ड, तथा (४) अन्य उपायों के निष्फल होने पर दण्ड —अन्तिम अस्त्र।

(१) दण्ड देने वाले के हृदय की पवित्रता

म० दयानन्द द्वारा प्रतिपादित दण्ड-व्यवस्था में न्यायाधीश दण्ड का निर्देश करता है तथा राजा उस दण्ड को देता है। किन्तु इन दोनों को दण्ड देने का अधिकार तभी है जब उनका हृदय अत्यन्त निश्छल एवं निष्पक्ष हो। न्यायाधीश की निष्पक्षता एवं उनके हृदय की पवित्रता की चर्चा हम कर चुके हैं। न्यायाधीश के साथ राजा को भी (१) पक्षपात-रहित एवं पवित्रात्मा (२) सत्यवादी एवं सत्य-विचारक (३) बुद्धिमान् (४) धर्म, अर्थ, काम की नीति का पण्डित (५) नीति-शास्त्र का ज्ञाता तथा (६) सत्पुरुषों का संगी होना चाहिए।[3] यदि दण्ड देने वाले में ये गुण न हुए तो दण्ड का कोई लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार उसको निम्नलिखित दुर्गुणों से रहित होना चाहिए--(१) लम्पट (२) टेढ़ा (कुटिल) (३) ईर्ष्यालु (४) क्षुद्र अर्थात् नीच-बुद्धि (५) अधर्मात्मा (६) अनष्ट अर्थात् विद्या व सुशिक्षा से रहित (७) विषयों में आसक्त,

---

१. स० प्र० पृ० १४२।

२. समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥

३. (क) तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥
(ख) त राजा प्रीणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते।
(ग) शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा (८) मूढ़ ।[1] इन दुर्गुणों से युक्त होने पर व्यक्ति का दण्ड देने का उद्देश्य पवित्र न होकर अपनी स्वार्थ-साधना होगा । और वह न्यायाधीश द्वारा निर्धारित दण्ड के अनुसार दण्ड न देकर उससे अपने स्वार्थ के आधार पर दण्ड देगा । यदि दण्ड देने वाला राजा स्वयं अपराधी है या अपराध-वृत्ति वाला है तो उसका कोई प्रभाव होना सम्भव नहीं । साथ ही, वह निष्पक्ष इतना होना चाहिए कि चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का ज्ञाता क्यों न हो, यदि उनका अपराध गुरुतर है और न्यायाधीश ने उनका दण्ड सुना दिया है तो उस दण्ड के अनुसार ही आचरण करे ।[2]

(२) दण्ड का उदात्त उद्देश्य

सुविचारित दण्ड-व्यवस्था वही है जिसमें दण्ड का उद्देश्य अत्यन्त उदात्त रहता है । न्याय अथवा दण्ड का अन्तिम उद्देश्य दया ही है । जिस व्यक्ति ने अपराध किया है, उसकी दुष्ट वृत्ति को विनष्ट करने एवं सम्पूर्ण प्रजा को सुखी करने के लिए दण्ड का प्रयोग किया जाता है ।[3] अपराध-रूपी विष को समाप्त करने एवं सद्वृत्ति रूपी अमृत के पान के लिए दिया गया दण्ड ही फलदायक होता है ।[4] यह तभी होता है जबकि दण्ड लेने वाले अपराधी को यह पूर्ण विश्वास हो कि राजा उसे उसके हित के लिए ही दण्ड दे रहा है । जिस प्रकार माता-पिता का दण्ड बच्चे के लिए फलदायक होता है, उसी प्रकार पिता रूप राजा का भी दण्ड फलदायी हो सकता है । उद्देश्य की उदात्तता एवं

---

१. (क) कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ।
   (ख) दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
   धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबांधवम् ॥
   (ग) सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
   न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ मनु०, स० प्र०, १४३ ।
२. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
   आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १७४ ।
३. प्रस्तुत पुस्तक में 'रक्षा-व्यवस्था' अध्याय 'युद्ध का उद्देश्य' उपशीर्षक स० प्र०, पृ० १७६ ।
४. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
   लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥ स० प्र०, पृ० ३४ ।

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पवित्रता प्रकट होने पर समाज भी उस दण्ड से अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग रहता है।

(३) ठीक अपराधी को दण्ड (अनपराधी को नहीं)

दण्ड-व्यवस्था की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दण्ड ठीक अपराधी व्यक्ति को ही दिया जा रहा हो। यदि अनपराधी को दण्ड और अपराधी को पुरस्कार मिलने लगे तो वह दण्ड-व्यवस्था व्यक्ति एवं समाज का सुधार करने के स्थान पर, उसमें अव्यवस्था और फिर अपराध-वृत्ति ही उत्पन्न करेगी। म० दयानन्द की इस विषय में स्पष्ट धारणाएँ हैं—

—जिस न्याय में अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता वहाँ सभी सभासद् घायल के समान समझे जाते हैं।[1] इसके विपरीत जो राजा दुष्ट के प्रति अति तीक्ष्ण तथा श्रेष्ठ पर कोमल रहता है वह अति माननीय होता है,[2]

—यदि राजा दण्डनीय को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीय को दण्ड देता है वह जीता हुआ बड़ी निन्दा और बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे।[3]

—अधर्म से किया दण्ड पूर्व प्रतिष्ठा, वर्तमान और भविष्यत् में और परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने वाला है और पर जन्म में भी दुःखदायक है।[4]

—जब राज सभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं, उनमें से एक अधर्म के कर्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासद् और चौथा उस अधर्मी सभा का सभापति अर्थात् राजा।[5]

---

१. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १६८।

२. तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥ मनु०, स०प्र० पृ०१५७।

३. अदण्ड्यान्दंडयन् राजा दंड्याँश्चैवाप्यदंडयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ मनु०, स० प्र०, पृ० १७२।

४. अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ मनु० स० प्र०, पृ० १७२।

५. पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ मनु० स०प्र०, पृ० १६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म० दयानन्द ने राजा तथा सभासदों के लिए जिन कामज व्यसनों का परित्याग बताया है[1] उनमें बिना अपराध दण्ड भी एक है। अतः म० दयानन्द का निष्कर्ष है कि जो जितना अपराध करे उसी को उतना दण्ड और जो जितना अच्छा काम करे उसको उतना ही पारितोषिक देना, अधिक वा न्यून नहीं, चाहे माता, पिता भी क्यों न हों।[2] निन्दा के योग्य व्यक्ति की निन्दा, स्तुति के योग्य व्यक्ति की स्तुति, दण्ड के योग्य व्यक्ति को दण्ड, मान्य के योग्य का मान होता है वहाँ राजा और सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं। केवल पाप का कर्ता पापी रहता है।[3] इस प्रकार सुविचारित दण्ड-व्यवस्था में ठीक अपराधी को दण्ड देना बहुत आवश्यक है।

(४) अन्य उपायों की निष्फलता होने पर दण्ड अन्तिम अस्त्र

सुविचारित दण्ड-व्यवस्था में दण्ड का प्रयोग एकदम नहीं होता। जब सब प्रयत्न असफल हो जाते हैं तब अन्तिम अस्त्र के रूप में दण्ड का प्रयोग किया जाता है। म० दयानन्द का स्पष्ट मत है कि जहाँ साम (शान्ति से) समझा-बुझाकर, दाम (कुछ देकर, यदि अपराध का कारण उसकी कोई आर्थिक कठिनाई है तो), भेद (अपराध के कारणों को जानकर और उन्हें दूर करने से अपराधी वश में न आवे वहाँ दण्ड प्रचारित करना चाहिए।[4] यद्यपि साम, दाम, भेद, दण्ड की नीति शत्रु के साथ प्रयोग में लाई जाती है, पर अपराधी-के साथ भी इसका प्रयोग हो सकता है। प्राचीन काल में दण्ड से पूर्व प्रायश्चित (स्वयं अपनी इच्छा से दण्ड लेना) करने की सुचारु प्रथा भी थी।

इसी प्रसंग में दण्ड के प्रकारों का उल्लेख भी आवश्यक है। अपराधी की निन्दा उसका धिक्कार अथवा उस पर अर्थदण्ड लगाकर यदि उसकी अपराध-वृत्ति नष्ट की जा सके तो और कोई दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि दण्ड के उक्त तीनों प्रकार असफल हो जायें तो कोड़े से बेंत मारने से ले

---

१. प्रस्तुत पुस्तक 'शासन-व्यवस्था' अध्याय में सभासदों के गुण।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ४५०।
३. राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ मनु०, स० प्र०, पृ० १६८।
४. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर मृत सिर काट लेने तक (जैसा अपराध हो) दण्ड दिया जा सकता है।[1]

आधुनिक दण्ड-विधान में भी प्रथम अपराध प्रायः क्षमा कर दिया जाता है। अनेक बार उसे चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है। किन्तु कई बार अपराध करने पर उसे दण्डित करना आवश्यक हो जाता है।

दण्ड विधान

दण्ड के सम्बन्ध में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि अपराधी को दण्ड देना ही पड़े तो वह कैसा हो, यहाँ हम म० दयानन्द द्वारा वर्णित दण्ड-विधान को दिखाकर उसकी विवेचना करेंगे।

झूठा साक्षी

म० दयानन्द के अनुसार जो लोग झूठी साक्षी देवे उससे १५ रुपए १० आने और मोह से साक्षी देवे ३ रुपए २ आने और इसी प्रकार मित्रता से, कामना से, क्रोध से, अज्ञानता से, बालवचन से मिथ्या साक्षी देवे तो उसे क्रमशः सवा छः, साढ़े बारह, पच्चीस, बयालीस रुपए १४ आने, ६ रुपए तथा १ रुपया ८ आने दण्ड देवे।[2] अतः आर्थिक स्थिति के अनुसार देश-काल और पुरुष को देखकर घटाया बढ़ाया जा सकता है।[3]

यहाँ यह स्पष्ट रखना चाहिए कि दयानन्द ने जब निर्दिष्ट धनराशि का दण्ड बताया था उसकी तुलना में आज १०० से भी अधिक गुणा रुपए उतने रुपए के तुल्य है। उनके द्वारा निर्दिष्ट १ रुपया दण्ड का अर्थ है आज उस पर १०० रुपया दण्ड किया जाए।

---

१. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दंड तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदंडन्तु वधदण्डमतः परम्॥ मनु०, स० प्र०, पृ० १७२।

२. (क) एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दंड विशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥
(ख) लोभात्सहस्रदंडचस्तु मोहत्पूर्वन्तु सोहमम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दंडचौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥
(ग) कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानात् द्वेशते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥

३. अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
साराऽपराधौ चालोक्य दंडं दंडचेषु पातयेत्॥ मनु०, स०प्र० पृ० १७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) शास्त्र-विरोधी (संविधान-निन्दा)

म० दयानन्द का मत है कि जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के लिए शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेद-निन्दक नास्तिक को जाति-पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिए।[१] यहाँ 'वेद' शब्द में अर्थ-विस्तार करना होगा। म० दयानन्द के मत में वेद किसी भी राज्य अथवा समाज के कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णायक हैं। जितने भी मानवोपयोगी नियम हैं, वे वेद के ही अनुसार बनाने चाहिए। इस प्रकार 'वेद' शब्द का अर्थ हुआ, राज्य द्वारा निर्धारित नियम अर्थात् उसका संविधान। जो भी व्यक्ति राज्य के सविधान की निन्दा करे, उसे उस देश में रहने का कोई अधिकार नहीं है। आज देश-निकाले का दण्ड भले ही न दिया जाता हो तो भी संविधान के निन्दक के लिए दण्ड की व्यवस्था अनिवार्य है।

३. अन्य अपराध एवं उनके कठोर दण्ड

(क) दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, 'उदर, जिह्वा, पग, आँख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं कि जिन पर दण्ड दिया जाता है।[२] जो जिस प्रकार जिस-जिस अंग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उस उस अंग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा छेदन करे।[३] अर्थात् जो सदा दूसरों को कुदृष्टि से देखता रहता हो उसकी आँख फोड़ देनी चाहिए। इसी प्रकार जो सदा दूसरों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करता रहता हो, उसकी जिह्वा काटी जाए।

(ख) जो स्त्री अपने जाति-गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवाकर मरवा डाले। इसी प्रकार जो अपनी स्त्री को छोड़ के परस्त्री वा वेश्यागमन करे उस पापी को लोहे के पलंग को अग्नि से तपाकर, उस पर सुला के, जीते को

---

१. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ मनु० स० प्र०, पृ० ५३

२. उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १७३।

३. येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ।[1]

म० दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट इस कठोर दण्ड-विधान को देखकर एक प्रश्न कर्ता ने कहा—यह कड़ा दण्ड उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अंग को बनाने या जिलाने वाला नहीं है। अर्थात् जो मनुष्य किसी का कोई अंग बना नहीं सकता वह उसके अंग को काटने का अधिकारी किस प्रकार है ? अतः ऐसा कठोर दण्ड न देना चाहिए। म० दयानन्द ने उत्तर दिया—'जो इसको कड़ा दण्ड मानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे, और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो एक राई भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा। यदि सुगम दण्ड दिया जाए तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगेंगे। जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो, वह करोड़ों गुणा अधिक होने से करोड़ों गुणा कठिन होता है। क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा। इस बात को उन्होंने गणित की सहायता से समझाया है। पहले एक व्यक्ति अपराध करता था उसे एक मन दण्ड देकर शेष सभी को अपराध से बचा लिया जाता था, अब दण्ड-व्यवस्था सुगम कर देने पर सभी द्वारा अपराधी हो जाने के कारण, सबको पाव-पाव भी दंड दिया जाय तो राज्य में दंड की मात्रा अधिक होगी।[2]

आज के युग में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि दंड-व्यवस्था कठोर रहे अथवा सरल ? इसी प्रसंग में मृत्यु का भी प्रश्न है ? इस युग में मृत्युदंड की कोई सार्थकता है या नहीं ? हम सिद्धान्ततः कठोर दंड के पक्ष में होने पर भी वर्तमान परिस्थितियों में कठोर दंड के बहुत पक्ष में नहीं है। उसका कारण यह है कि दंड तभी फलदायी होता है जब दंड देने वाला स्वयं सर्वथा निरपराध हो ? आज यह एक अत्यन्त सामान्य धारणा है कि अपराध तो सम्पूर्ण समाज में व्याप्त है, छोटे बड़े अधिकारी भी उससे बचे नहीं हैं। ऐसी स्थिति में दंड केवल वही प्राप्त कर रहे हैं जो कानून की गिरफ्त में आ जाते हैं। जब तक समाज में अपराध की वृत्ति नष्ट नहीं होती तब तक

---

१. (क) भर्त्तारं लंघयेद्या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥
(ख) पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दहेत पापकृत् ॥ मनु०, स०प्र०, पृ० १७६
२. स० प्र०, पृ० १७५-१७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति को दंडित करने का कोई अर्थ नहीं है।

म० दयानन्द ने जिस दंड-व्यवस्था का उल्लेख किया है, वह एक आदर्श समाज अथवा राज्य की दंड-व्यवस्था है, जहाँ कि सर्वत्र ईमानदारी सत्याचरण, धर्मनिष्ठा आदि है, सम्पूर्ण समाज में नैतिकता, सच्चरित्रता आदि व्यक्तिगत गुण हैं। ऐसी स्थिति में कोई एक व्यक्ति अपराध कर दे तो उसे कठोर से कठोर दंड, आवश्यकता पड़े तो मृत्यु-दंड भी, देने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि एक मछली जो सारे तालाब को खराब करना चाहती थी, उसे मार कर तालाब से बाहर कर, हमने सारे तालाब की रक्षा कर ली है।

राजा, राजपुरुष तथा न्यायधीश आदि के लिए दण्ड

म० दयानन्द ने यह प्रश्न उठाकर कि राजा व रानी, अथवा न्यायधीश व उनकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे? उत्तर दिया कि सभा अर्थात् उनको तो प्रजा-पुरुषों से भी अधिक दण्ड देना चाहिए। फिर प्रश्न किया कि राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे। दयानन्द ने उत्तर दिया कि राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाए और वह दण्ड ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे? और जब सब प्रजा और प्रधानराज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहे तो अकेला राजा क्या कर सकता है? जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय धर्म को डुबा कर, सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाए। इस नियम को स्मरण करो कि न्याय-युक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है, जो उसका लोपकर्ता है उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा?[1] एक अन्य स्थान पर फिर कहा कि यदि राजा या रानी व्यभिचार आदि कुकर्म करे तो उसे सभा दण्ड दे। उसे दण्ड लेना पड़ेगा। जब सब राज्याधिकारी और प्रजाजन दण्ड देना चाहें तो अकेला क्या कर सकता है? और राजा श्रेष्ठ होकर जब बुराई करे तो उसे प्रजा से भी अधिक दण्ड देना चाहिए।

राजा और न्यायाधीश के दण्ड के साथ अन्य राजपुरुषों की अपराध-वृत्ति पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। अनेक बार राजा की नाक के नीचे ही अपराध हो रहा होता है। राजा उन पर कड़ी नज़र रखे और न्यायसभा से दण्ड दिलावे। इसी प्रकार न्यायालय में भी राजपुरुष अपराध कर सकते हैं,

---

१. दयानंद दिग्दर्शन, पृ० ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष रूप से वादी, प्रतिवादी ग्रादि से उत्कोच लेकर उनके प्रति पक्षपात कर सकते हैं। दयानन्द की व्यवस्था है कि जो राजपुरुष ग्रन्याय से वादी, प्रतिवादी से गुप्त धन ले के पक्षपात वा ग्रन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रखे जहाँ से पुनः लौट कर न ग्रा सके, क्योंकि यदि उस को दण्ड न दिया जाए तो उसको देख के ग्रन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें ग्रौर दण्ड दिया जाए तो बचे रहें।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्ड-व्यवस्था व राज्य के प्रत्येक छोटे, बड़े, धनी निर्धन, बलवान्, निर्बल, शिक्षित, ग्रशिक्षित राजा, प्रजा ग्रादि के लिए है, न कि केवल निर्धन, निर्बल एवं ग्रशिक्षित प्रजा के लिए ही।

दण्डनीति में भेद

यह शीर्षक ग्रपने में चौंका देने वाला हैं। सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था पक्षपात रहित प्रतिपादित करने के बाद दण्डनीति में भेद का ग्रर्थ समझना कठिन है। ग्राजकल की दण्डनीति के ग्रनुसार हर छोटे-बड़े देशवासी के लिए समान रूप से दण्ड-व्यवस्था निर्धारित की गयी है। पर दयानन्द की दृष्टि में यह ऊपर से समान प्रतीत होने वाली दण्ड-व्यवस्था में वस्तुतः बहुत ही ग्रसमानता है।

म० दयानन्द द्वारा निर्धारित-दण्ड व्यवस्था में धनी, निर्धन, शिक्षित, ग्रशिक्षित एवं राजा, प्रजा के ग्रपराध में भेद माना गया है। उनके ग्रनुसार निर्धन की ग्रपेक्षा धनी, ग्रशिक्षित की ग्रपेक्षा शिक्षित, ग्रौर प्रजा की ग्रपेक्षा राजपुरुष ग्रथवा राजा कोई एक ग्रपराध करे तो धनी, शिक्षित ग्रौर राजपुरुष का ग्रपराध ग्रपेक्षाकृत बड़ा माना जाना चाहिए। जिस व्यक्ति में जितना सामर्थ्य, विवेक ग्रौर ग्रधिकार है, उसका उत्तरदायित्व भी उतना ही ग्रधिक है। जिस प्रकार माँ ग्रपने ५ ग्रौर १० वर्ष के पुत्र के ग्रपराध में ग्रन्तर करती है ग्रौर वह ग्रन्तर न्यायोचित होता है, उसी प्रकार प्रजा ग्रौर राजपुरुष के ग्रपराध में भी ग्रन्तर ग्रपेक्षित है। निर्धन एवं ग्रशिक्षित व्यक्ति को थोड़े से ही दण्ड से ही वश में किया जा सकता है, किन्तु धनी एवं शिक्षित को थोड़े दण्ड से वश में करना कठिन है। दयानन्द का कथन है कि ग्रपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर ग्रधिक दण्ड होना चाहिए। क्योंकि बकरी के प्रमाद रोकने से सिंह का

---

१. ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजात्कुर्यात् प्रवासनम्।। स० प्र०, पृ० १५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाद रोकने में अधिक प्रयत्न होना उचित है। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित व्याख्या है—

(क) जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड होने अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए।[1]

(ख) मंत्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे नीचे को सात सौ गुणा और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा, इसीप्रकार उत्तर-उत्तर अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणा दण्ड से कम न होना चाहिए।[2]

(ग) जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य से सोलह गुणा, क्षत्रिय को बीस गुणा, ब्राह्मण को चौसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एक सौ अठाईस गुणा दंड होना चाहिए। अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो उसको अपराध में उतना ही अधिक दंड होना चाहिए।[3]

म० दयानन्द का अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है। दंड का उद्देश्य है—अपराध-वृत्ति को नष्ट करना। जिस व्यक्ति की यह वृत्ति जितने दंड से नष्ट हो उसको उतना ही दंड मिलना चाहिए।

दयानन्द द्वारा प्रतिपादित न्याय-व्यवस्था का प्रतिपादन करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में उनका निम्नलिखित कथन उद्धृत किया जा सकता है—जिस समाज में न्यायाधीश के सामने अन्याय हो तो प्रजा का दोष नहीं है, किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता है।[4]

---

१. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, पृ० ३७३।

२. स० प्र०, पृ० १७४।

३. कार्षापणं भवेद्दण्डचो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्डचः सहस्रमिति धारणा॥ मनु० स० प्र०, पृ० १७३।

४. (क) अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च॥ मनु०
(ख) ब्राह्मस्य चतुःषष्ठि पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ मनु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ | देश की उन्नति व स्वन्तत्रता का प्रेरक : महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द ने स्वराज्य, स्वदेशोन्नति और स्वायत्त शासन के सत्यार्थ-प्रकाश में न केवल कुछ सूत्र लिखे थे, वरन् अपने क्रियात्मक जीवन से देश की स्वाधीनता के लिए अथक प्रयत्न भी किया था। म० दयानन्द का उद्देश्य किसी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक संस्था की स्थापना आदि न था। उनका उद्देश्य धर्म अथवा धार्मिक वृत्ति के आधार पर देश की उन्नति एवं स्वतन्त्रता ही था। स्वामी विरजानन्द से दीक्षा लेने से पूर्व जब वे सत्य की खोज में भटक रहे थे तब ओखी मठ के महन्त ने उन्हें अपने मन्दिर का महाधीश बनाना चाहा, पर दयानन्द ने उसके उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—यदि मुझे धन की चाह होती तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति को जो तुम्हारे इस स्थान और धन दौलत से कहीं बढ़कर है, न छोड़ता। फिर महन्त के यह पूछने पर कि वह कौन सा ध्येय है, जिसकी तुम्हें खोज है, म० दयानन्द ने उत्तर दिया—मैं बराबर अपने देश वालों का उपकार जो मनुष्य पर कर्त्तव्य है—करता रहूँगा।[1] बाद में विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जब उन्होंने कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, और लोगों ने उनसे उनका जन्मस्थान आदि बताने के लिए कहा तो वे टालने लगे। उन्हें डर था कि कहीं उनके पिता उन्हें पकड़ कर फिर न ले जाएं और जिसके लिए मैंने अपना सब बलिदान कर देना अपना मन्तव्य समझा है, अर्थात् देश का सुधार और धर्म का प्रचार, वह देश यथापूर्व अन्धकार में पड़ा रह जाता।[2] इन सबसे स्पष्ट है कि दयानन्द के हृदय में देश के प्रति तड़प थी।

---

१. म० दयानंद सरस्वती जीवन-चरित्र (पं० लेखराम द्वारा संकलित) में स्वामी जी का स्वकथित जीवन वृत्त, पृ० ३४।

२. वही, पृ० २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक महापुरुषों ने महर्षि दयानन्द द्वारा देश की स्वतन्त्रता के प्रयत्नों का उल्लेख किया है। डी बैल्ले के अनुसार वर्तमान स्वतन्त्रता भारत की वास्तविक आधारशिला दयानन्द ने रखी थी। रोम्यांरोला का कथन है—राष्ट्रीय पुनर्जागरण में, जो इस समय दीख पड़ रहा है, दयानन्द ने प्रबल शक्ति के रूप में कार्य किया। थियोसोफिकल सोसाइटी की मैडम ब्लैवत्स्की ने कहा था—महर्षि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम नारा लगाया था कि भारत भारतीयों का है। सर् वैलजटाइन चिरौल के अनुसार महर्षि दयानन्द के उपदेश हिन्दुओं में सुधारने के लिए न होकर केवल भारत में विदेशी प्रभाव का विरोध करने के लिए हैं।[1] दादा भाई नौरोजी ने सन् १९०४ में कहा—मैंने स्वराज्य शब्द सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से सीखा। हम इस अध्याय में देश की उन्नति व स्वतन्त्रता के लिए महर्षि दयानन्द द्वारा किये प्रयत्नों का अध्ययन करेंगे।

१८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति में

दंडी स्वामी विरजानन्द जी से शिक्षा प्राप्त करने से पूर्व जब दयानन्द सत्य की खोज में इधर-उधर भटक रहे थे तब देश को दुर्दशा और विदेशियों के शत-शत अत्याचारों को देखकर उसे स्वाधीन करने के लिए वे तड़प उठे थे। सन् १८८५ में उन्होंने हरिद्वार में स्वामी पूर्णानन्द (जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार महाराष्ट्र सन्यासी, जिनसे दयानन्द ने सन्यास ग्रहण किया था, पर देवेन्द्रनाथ मुचोपाध्याय के मत में हरियाणा के पूर्णाश्रम) से देश की इस भयंकर स्थिति का समाधान पूछा तो उत्तर मिला—'इन प्रश्नों पर हमारे शिष्य विरजानन्द ने विशेष विचार किया है, उनके पास मथुरा जाओ।'

श्री पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार ने 'हमारा राजस्थान' में लिखा है—'मार्च १८५ तक वह (दयानन्द) प्रायः गंगा के साथ-साथ गंगोत्तरी और और बदरीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रुहेलखंड, दोआब और काशी के प्रदेश में घूमता रहा। जहाँ तहाँ क्रान्ति की तैयारियाँ जनता में भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं। १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया और आगे पाँच मास तक कानपुर, इलाहबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस, मिर्जापुर चुनार होकर मार्च १८५६ में जब क्रान्ति की की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकीं, तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिए दक्खिन की ओर निकल पड़ा। उनके आरम्भिक

१. म० दयानंद, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० १६०-१६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का वृत्तान्त यहाँ आकर एकाएक समाप्त हो जाता है, आगे तीन साल क्रान्ति के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने इस क्रान्ति-युद्ध में या उसके सगठन में कितना भाग लिया, तो भी उनकी जीवन-घटनाओं की तिथियों का जो संक्षिप्त सा विवरण ऊपर दिया गहा है, उससे यह बात तो स्पष्ट हो सकती है कि क्रान्ति की तय्यारियों से उन्हें निकटता से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था। उन जैसा भावना-प्रवण युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा हो, यह मानना आसान नहीं हैं। इन तीन वर्षों के बारे में उन की यह चुप्पी भी कम अर्थकर प्रतीत नहीं होती।'

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार का 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में अनुमान है कि १८५७ की हलचल में स्वामी दयानन्द का किसी न किसी रूप में हाथ अवश्य रहा होगा।···कानपुर के पास बिठूर में तब इनके समवयस्क नाना साहब धौधौंपन्त और उनके साथी भारत की स्वतन्त्रता के लिए एक बडे प्रयत्न का आरम्भ और उसके लिए योग्य सहयोगियों की खोजकर रहे थे। साधु-संन्यासियों के सहयोग का उसके लिए विशेष मूल्य था। महर्षि दयानन्द कानपुर गये, उनसे अवश्य मिले होंगे। पं० जयचन्द्र ने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत किया है—'साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्त्व-पूर्ण भाग लिया था।'

सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में सं० १९१४ (सन् १८५७) के वर्ष में अंग्रेजों का तोपों से मूर्तियों को उड़ा देना और इस सन्दर्भ में बाधेर लोगों की वीरता का उल्लेख एक अन्य अनुमान है जिसके आधार पर जयचन्द्रजी ने लिखा है—इस तरह की बात कोई ऐसा व्यक्ति ही लिख सकता है जिसने बाधेरों के संघर्ष को निकट से देखा हो या सुना हो, जिसके दिल में यह कसक रह गयी हो कि काश इनका कोई श्रीकृष्ण जैसा नेता रहा होता।'

सन् १८६६ में राजस्थान के पोलिटिकल एजेंट कर्नल ब्रुवरन जब सेवा निवृत्त होकर इंग्लैंड जाने लगे तो विदाई-सभा में म० दयानन्द से भी कुछ कहने का अनुरोध किया गया तो बोले —'आप लन्दन पहुँच कर महारानी विक्टोरिया को कह दें—'यदि भारतीयों के धार्मिक जीवन में शासन इसी तरह

---

१. दयानंद, ब्रिटिश सरकार से गोहत्याबन्द कराने का संघर्ष किया था, लगभग ७५ हजार हस्ताक्षर करा कर ब्रिटिश थानों को भेजा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ डालता रहा और गाय जो भारत की अर्थव्यवस्था की रीढ़ और और सांस्कृतिक जीवन का प्रतीक है, उसका वध जारी रहा तो १८५७ की क्रान्ति फिर भी दोहराई जा सकती है।' उनकी यह वीरगर्जना भी इस बात का प्रमाण है कि १८५७ की क्रान्ति में उनका अवश्य योगदान रहा होगा। उन्होंने केवल इस क्रान्ति में भाग लिया वरन् झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, श्री तांत्या टोपे और अन्य बहादुर राजर्षियों को स्वतन्त्रता-संग्राम में कूच करने वा मन्त्र देने का श्रेय भी क्रान्तिकारी दयानन्द को है।

गुरु विरजानन्द से देशोन्नति की शिक्षा

१४ नवम्बर १८६० को स्वामी दयानंद ने प्रज्ञाचन्द संन्यासी विरजानन्द का द्वार खटखटाया और जीवन का सत्य जानने के लिए उनका शिष्यत्व धारण किया। व्याकरण तथा आर्ष ग्रन्थों के गहन अध्ययन के अतिरिक्त पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार के अनुसार देश की दशा पर भी दोनों गुरु शिष्य का संवाद एकान्त में होता था जिसमें उन दोनों के सिवाय वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति नहीं रहने पाता था।'

तीन वर्षों तक शिक्षा-प्राप्त करने के उपरान्त दक्षिणा रूप में जब महर्षि दयानन्द लौंग देने लगे तो गुरु ने कहा—'वत्स, भारत देश में दीन-हीन जब अनेक विध दुःख पा रहे हैं, मतमतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गयी हैं, जाओ, उन्हें निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी दशा सुधारो। गुरु दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो।[1] और दयानन्द ने देश की दशा सुधारने का बीड़ा उठाकर गुरु से विदा ली, और अपने जीवन के शेष २० वर्षों में देश में स्वतन्त्रता की भावना का उसने दीप जलाया। म० दयानन्द ने ६ फरवरी १८८१ के पत्र में कालीचरण को लिखा था—हम केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर यह कार्य ग्रहण किया है। १७ मार्च १८८३ के पत्र में समर्थदान जी को लिखा—देश की उन्नति जहाँ तक बन सकेगा, आमरण करता रहूँगा ही, पुनर्जन्मान्तर में भी।[2]

हरिद्वार में एक दिन भाषण करते हुए कहा—'मेरी आँखें उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तथा अटक से कटक

१. श्रीमद्दयानंद प्रकाश, पृ० ८७।
२. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, पृ० २६६, ३६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक आर्यों का एक छत्र राज्य स्थापित होगा ।[1]

देश की दशा से द्रवित

म० दयानन्द के जीवन को देखने से ज्ञात होता है कि वे देश की उस समय की दशा को देखकर व्यग्र हो उठते थे ।" एक दिन वे बैठे-बैठे अकस्मात् ही लेट गये और फिर उठकर टहलने लगे । एक भक्त ने विस्मयपूर्वक पूछा—'महाराज को आज क्या कोई वेदना हो रही है ? उन्होंने एक लम्बा सांस भर कहा—'भाई इससे अधिक हृदय-विदारक दारुण वेदना और क्या हो सकती है कि विधवाओं की दुःखभरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्तनाद से और गोवध से इस देश का सर्वनाश हो रहा है ।"[2] सन् १८६८ में एक दिन एक मायावादी साधु दयानन्द से बोला निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते । दयानन्द मुस्करा कर बोले—शास्त्रीय प्रवृत्ति-प्रजा प्रेम से प्रेरित होकर सब ही को करना उचित है । साधु जी ने कहा— प्रजा-प्रेम का नया बखेरा क्यों डालते हो ? स्वामी जी ने पूछा—आप किससे प्रेम करते हो ? साधु बोला—आत्मा से । स्वामी जी ने कहा—आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते । आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है । अपने वस्त्र उज्ज्वल बनाने का ध्यान है, क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है जो आपके देश में लाखों की संख्या में भूख की चिंता पर पड़े हुए रात दिन, बारहों महीने, भीतर ही भीतर जलकर राख हो रहे हैं…तन पर सड़े गले मैले कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं । लाखों निर्धन दीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भाँति गन्दे कीचड़ और कूड़े के ढेरों से घिरे हुए सड़े गले झोंपड़ों में लोटते हुए जीवन के दिन काट रहे हैं । महात्मन् ! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अंगों की भांति सबको अपनाना होगा । सच्चा परमात्मा प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता । वह ऊँच-नीच की भावना को त्याग देता है । पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट क्लेश काटता है ।[3]

सन् १८६९ में कानपुर में प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद ने कैलास और वैकुण्ठ नाम के मन्दिर बनवाए थे । जब वे दोनों स्वामी जी से मिले तो उन्होंने कहा—आपने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर खड़े किए हैं, परन्तु यह तो बताइए इससे लाभ क्या हुआ है ? अनधिकारियों को खिला पिला कर ईंट पत्थर में

---

१. श्री म० दयानंद प्रकाश, पृ० ३८८ ।
२. वही, पृ० ३८५ ।
३. म० दयानन्द प्रकाश पृ० १५९ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यय करके आपने इतना रुपया यों ही खो दिया है। क्या ही अच्छा होता यदि वह द्रव्य जाति और देश के भले में लगता। तीस तीस वर्ष की बड़ी लड़कियाँ, बिना व्याही कनौजियों के घरों में बैठी हैं। यदि उनके व्याह करा देते अथवा बालक-बालिकाओं की कोई पाठशाला स्थापित करके जनहित का परिचय देते तो भी अच्छा था। देश में शिल्प का अभाव है। उस द्रव्य से आप यदि एक शिल्पशाला स्थापित करके स्वदेशवासियों में कला-कौशल का प्रचार करते तो कितना भारी लोकहित होता।[1] महर्षि दयानन्द के उक्त विचारों से उनके हृदय का दर्द समझा जा सकता है।

एक दिन म० दयानन्द प्रयाग में गंगा-तट पर बैठे हुए प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथों में उठाए गंगा में प्रविष्ट हुई। कुछ गहरे जल में जाकर उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और बच्चे के निर्जीव कलेवर को 'हाय हाय' के आर्त्तनाद के साथ पानी में प्रवाहित कर दिया। स्वामी जी उस समय अपने हृदय को थाम न सके। जब उन्होंने देखा कि वह स्त्री बच्चे के कलेवर पर लपेटे हुए कपड़े को धोकर वायु में सुखाती और रोती हुई घर को जा रही है, उन्होंने खेद-सागर में निमग्न होकर कहा कि भारत देश इतना निर्धन इतना कंगाल है कि माता अपने कलेजे के टुकड़े को तो नदी में बहा चली है, परन्तु उससे वस्त्र इसलिए नहीं बहाया गया कि उसका मिलना कठिन है। इसे बहाकर उसका निर्वाह न हो सकेगा। म० दयानन्द ने प्रण किया कि कुछ काल तक मैं उन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूँगा।[2]

भागलपुर में गंगा पार मेला था, उसमें लोग अपनी लड़कियाँ पण्डों को दान कर रहे थे। यह देखकर स्वामी जी को इतनी वेदना हुई कि वे भोजन न खा सके।[3]

एक तिलकधारी ब्राह्मण के कुशल पूछने पर म० दयानन्द ने उत्तर दिया —हमें कुशल कहाँ, इससे बढ़कर खेद और क्या हो सकता है कि ब्राह्मण अपने कर्त्तव्य-कर्म से कोसों दूर है। बाहरी आडम्बर और पाखण्ड से अधिक प्यार

---

१. वही पृ० १८३।
२. म० दयानन्द प्रकाश पृ० ?१४।
३. म० दयानन्द दिग्दर्शन, ब्रह्ममुनि पृ० ४१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं। धर्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं। आर्य-सन्तान की दीन-हीन दशा पर इनको टुक दया नहीं आती।[1]

इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं, जिनसे देश की भयंकर स्थिति देखकर म० दयानन्द का हृदय रो उठा था और उन्होंने देश की स्वतन्त्र एवं उन्नत करने का संकल्प किया था।

पराधीनता और दुर्दशा के कारण

म० दयानन्द ने अनेक बार देश की अवनति के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। सबसे महान् कारण देश की पराधीनता है। उन्होंने कहा था—जब से विदेशी इस देश में आकर राज्याधिकारी हुए तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है। म० दयानन्द ने कहा था विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट और मदभेद है।···जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है, क्या तुम महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुई थीं, उनको भी भूल गए। आपस की फूट से कौरव-पांडव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है, न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुःख-सागर में डुबो मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गो-हत्यारे, स्वदेश, विनाशक, नीच 'फूट' के मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।[2]

उस समय के देश के राजा भी अपने अपने में मस्त थे। देश की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। उनकी राजनीति की आलोचना करते हुए दयानन्द ने कहा था—आजकल के राजाओं के मन्त्री चार हैं—(१) मुहूर्त दर्शी ज्योतिषी, (२) तेल वाला (३) ऊँट वाला (४) नचनिया वेश्या। किसी-वदेशी राज्य ने देशी राजा पर आक्रमण कर दिया तो प्रथम मुहूर्त-दर्शी ज्योतिषी से पूछा, क्या करना चाहिए तो बताया कि अभी अपना लड़ने का मुहूर्त नहीं है। तेलवाले से पूछा तो कहा अभी क्या चिन्ता है। ऊँट वाला बोला, देखिए ऊँट किस करवट बैठता है। चौथी नचनिया वेश्या ने नाच कर कहा—अजी, यहीं ज़नानखाने में रहें। क्या वह ज़नानखाने में भी आ जावेगा?[3] म० दयानन्द का यह

---

१. म० दयानन्द प्रकाश पृ० ३७३।

२. म० दयानन्द दिग्दर्शन पृ० ४४।

३. वही, पृ० ४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथन देश की दुर्दशा का कारण प्रकट कर देता है।

म० दयानन्द देश की दुर्दशा और पराधीनता का एक बड़ा कारण भारत के धार्मिक मत-मतान्तरों के पारस्परिक झगड़ों को मानते थे। एक बार दयानन्द मेजर ए० जी० डेविडसन महाशय से मिलने के लिए गए। वार्तालाप के क्रम में स्वामी जी ने कहा—राजा प्रजा के लिए पितावत् होता है, और प्रजा राजा के लिए पुत्र-तुल्य है। यदि कोई पुत्र विपरीत मार्ग पर चले तो पिता का कर्त्तव्य है कि वह उसे सन्मार्ग पर लाए। आप भी एक प्रकार के राजा हैं। देश में अन्धकार फैल रहा है। आपके शासन में मत-मतान्तरों के लोग भोली प्रजा को नोच नोच कर खा रहे हैं। इससे भारतीय प्रजा में अगणित दुःखों की सृष्टि हो रही है। आपका धर्म है कि इसका कोई प्रबन्ध करके प्रजा का रक्षण करें। कमिश्नर महोदय ने उत्तर दिया—यह विषय धर्म से सम्बन्ध रखता है। शासक लोग इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि किसी अन्य प्रकार की सहायता आपको चाहिए तो वह दी जा सकती है। बाद में म० दयानन्द सहायक कमिश्नर रेमटन से भी मिले।[1] इस प्रकार म० दयानन्द जहाँ देश की दुर्दशाओं को दूर करने के व्यक्तिगत प्रयत्न करते थे वहाँ राजनीति के शासकों से मिलकर उनकी सहायता से भी देश की उन्नति का उन्होंने प्रयत्न किया।

सन् १८७७ में एक पादरी के प्रश्न के उत्तर में कहा था—आर्य लोग वेदानुसार ब्रह्मचर्य, विद्या-प्राप्ति एक स्त्री से विवाह, दूर देश की यात्रा और स्वदेश-प्रेम आदि शुभ कर्मों का परित्याग कर बैठे हैं इसलिए उनकी यह अधोगति हो रही है।[2] उन्होंने एक पत्र में भी लिखा—विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना और पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या-भाषण आदि कुलक्षण, वेद-विद्या का अप्रचार आदि कर्म हैं।[3]

जिस ऋषि दयानन्द की आँखों में माता-पिता और बहनों का वियोग नमी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देखकर उनकी आँखों से झर झर आँसू बहने लगे। ऋषि ने एक ठण्डी सांस लेकर निम्नलिखित आशय के वाक्य कहे—ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार

१. म० दयानन्द प्रकाश पृ० १०५।
२. म० दयानन्द प्रकाश पृ० ३३१।
३. म० दयानन्द के पत्र और विज्ञापन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा । फिर अपने शिष्य आत्मानन्द से बोले—आत्मानन्द, हम चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल बनाना चाहते हैं ।[1]

इस प्रकार म० दयानन्द की दृष्टि में देश की पराधीनता, धार्मिक मत-वैभिन्य एवं व्यक्तिगत जीवन की दुर्बलताएँ देश की अवनति के कारण हैं ।

देश की स्वतन्त्रता व उन्नति के प्रयत्न और उपाय

(क) आर्य समाज की स्थापना

देश की स्वतन्त्रता व उन्नति के लिए म० दयानन्द ने १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की । आर्य समाज के प्रारम्भ में बनाए २८ नियमों में १७वाँ नियम था—इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा—एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार । इन दोनों का शोधन तथा समस्त संसार के हित की उन्नति की जाएगी । म० दयानन्द के ग्रन्थों के आधार पर इस नियम के उत्तरार्द्ध की व्याख्या होगी—वैदिक संस्कृति की विशाल मानवीय संस्कृति की ध्वनि सम्पूर्ण जगत् में प्रसारित की जाए । इन नियमों में ग्यारहवाँ नियम भी महत्त्वपूर्ण है । जिसके अनुसार आर्य समाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा उसके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जाएगा ।[2] उसी व्यावहारिक प्रयोग का ही परिणाम था कि म० दयानन्द जहाँ भी आर्य समाज की स्थापना करते वहाँ ईसाइयत का बढ़ता प्रचार रुक जाता । नवयुवक ने पादरियों को कह दिया कि अब हमें आपके धर्म में कोई ऐसी विशेषता दिखाई नहीं देती जिसके लिए हम अपने पुरातन धर्म का परित्याग करें ।[3] म० दयानन्द ने लड़कियों को मुसलमान होने से बचाया ।[4] अछूतों एवं स्त्रियों का उद्धार किया ।

सन् १९१५ में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री श्री रैम्जे मैक्डानल्ड जब भारत आए तो उन्होंने कहा भारत के समस्त ऐंग्लो इण्डियन अधिकारी आर्य समाज को एक राजनीतिक संस्था समझते हैं, और पुलिस के लोग आर्य समाज को एक बाग़ी मानते हैं । यह धारणा निश्चय ही आर्य समाज के स्वतन्त्रता प्रयत्नों को देखकर बनी होगी । आर्य समाज के सौ वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्य समाज ने देश की स्वतन्त्रता में महान् योगदान दिया । श्री

---

१. म० दयानन्द इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० १३६ ।
२. वही पृ० ७५ ।
३,४. म० दयानन्द प्रकाश पृ० १७९, ४७७ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्याम जी कृष्ण वर्मा ने विदेश में इण्डियन होमरूल लीग की स्थापना करके वैदिक संस्कृति का प्रसार विदेशों में भी किया, जिससे देश का स्वाभिमान जागा। लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, सरदार अजीत सिंह, श्री मदनलाल ढींगरा, श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री गेंदालाल, ठा० रोशन सिंह जी, सरदार भगत सिंह, चौ० मुख्त्यार सिंह, श्री हर विलास शारदा तथा अन्य अनेक स्वतन्त्रता-प्रेमियों ने महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर देश की स्वतन्त्रता के लिए अपने को बलिदान किया। मालाबार के मोपला विद्रोह, राजस्थान व बंगाल के अकाल, बिहार के भूकम्प, देश-विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् १९५७ में पञ्जाब में हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन आदि द्वारा आर्य समाज ने सदा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया।

देश को स्वतन्त्रता दिलाने में, देश की कुरीतियों व अन्य विश्वासों को विनष्ट करने में, देश की शिक्षा-प्रणाली में भारतीयता का स्वर भरने में, स्त्री जाति के उद्धार में, दलित एवं अछूत कही जाने वाली जातियों के उत्थान में धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने में तथा अपने देश के गौरवपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठों को उजागर करने में आर्य समाज का कार्य अविस्मरणीय है।

(ख) स्वदेश-प्रेम एवं स्वराज्य की भावना

म० दयानन्द ने स्वदेश-प्रेम एवं स्वराज्य की भावना जागरित करके भारत की जनता को विदेशी शासन से मुक्त होने का पाठ पढ़ाया था। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की रचना करके उसमें अपने देश का गौरव गान किया तथा भारतवासियों के हृदयों में अपने देश और धर्म के लिए स्वाभिमान उत्पन्न किया। उनके कुछ उद्धरण उल्लेखनीय हैं—

—यह आर्यावर्त देश ऐसा है कि जिस के सदृश भूगोल में दूसरा देश नहीं है। आर्यावर्त देश ही सच्चा पारस मणि है, जिसको लोहे रूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

—जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन सब जने मिलकर प्रीति से करें।

—सृष्टि से लेकर पाँचों सहस्रों वर्षों से पूर्व पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पांडव पर्यन्त यहाँ के राज्य और राज्य-शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलाते थे ।[1] (सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास)

—आदि अनेक कथनों द्वारा महर्षि ने राष्ट्र को यह अनुभव करा दिया कि हम भी कभी शक्ति-सम्पन्न और स्वाधीन थे । इन कथनों ने भारत-वासियों के हृदय में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आग सुलगा दी ।

२३ नवम्बर १८८० के अपने पत्र में अंग्रेज़ों के सम्बन्ध में म० दयानन्द ने मैडम ब्लेवत्स्की को लिखा था—'जब तक वे (अंग्रेज़) आर्यावर्त्तस्थ आर्यों का पूर्व इतिहास, आचार. उन्नति, विद्या, पुरुषार्थ, न्याय वृत्ति आदि उत्तम गुणों और वेदादि शास्त्रों के सत्य-सत्य अर्थों को न जानेंगे', (तब तक वे इन्हें हीन समझेंगे) परन्तु कालान्तर में उनका यह भ्रम अवश्य छूट जाएगा[2]—म० दयानन्द का यह कथन म० दयानन्द का अपने गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति स्वाभिमान प्रकट करता है ।

(ग) पूर्ण स्वतन्त्रता की कल्पना

म० दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—प्रार्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है । जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है । कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं । दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है । कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराए का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है ।[3]

पूर्ण स्वराज्य की इससे सुन्दर व्याख्या क्या हो सकती है । कांग्रेस ने स्वराज्य का नारा सन् १९२९ में दिया, पर महर्षि ने इसका स्वप्न बहुत पहले देख लिया था । पूर्ण स्वतन्त्रता की सर्वप्रथम उन्हीं की ही कल्पना थी ।

(घ) देश की राजनीतिक व धार्मिक शक्ति का संगठन

१ जनवरी १८७७ को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के महारानी होने

१. आर्य समाज का इतिहास भाग-२ पृ० ३६० ।
२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० २५५ ।
३. स० प्र० १२६ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आयोजित दरबार में म० दयानन्द ने दिल्ली पहुँचकर एक ओर आर्यावर्त के समस्त राजाओं के हृदय में सच्चे आर्य धर्म को जगा कर देश जगाने का प्रयत्न किया तथा साथ ही देश के भिन्न भिन्न धार्मिक नेताओं को एकत्र करके ऐसा महानद ढूँढने का प्रयत्न किया, जिसमें सब सम्प्रदाय रूपी नाले आकर मिल जाएँ। सभी प्रजा के सुधार का दावा करते हैं, पर सभी परस्पर झगड़ों में पड़े हैं। स्वामी जी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्र सेन, सर सय्यद अहमद खाँ, मुंशी कन्हैया लाल अलखधारी, बा० नवीन चतुराय, मुंशी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि महानुभाव इकट्ठे हुए। इसमें बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब से आए इस्लाम, ब्राह्मो समाज, सनातन धर्म तथा आर्य समाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे।[1] स्वामी जी ने सभी मतवालों से कहा —आर्य समाज से मिलकर भारत की उन्नति का कार्य करें, क्योंकि जिस देश का अन्न खावे, शरीर पले उस देश की उन्नति करना परम कर्त्तव्य है।[2]

म० दयानन्द ने धर्म की नई व्याख्या की, और धर्म के सार्वभौम रूप को प्रकट किया। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में उन्होंने लिखा—'मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ जो तीन काल में सबको एक सा मानने योग्य है। मेरा नवीन कल्पना का मत-मतांतर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किंतु जो सत्य है, उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना, मुझको अभीष्ट है। सत्यार्थप्रकाश में लिखा—सब सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म मानते हैं। इसी प्रकार विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ आदि को भी सत्य धर्म मानते हैं।[3] धर्म की इस व्याख्या से सभी धर्मों एवं सम्प्रदाओं में एकता कर सबको देश की उन्नति की प्रेरणा दी। दयानन्द के इन प्रयत्नों से एक नई दिशा मिली, और देश में नव जागरण की एक लहर-सी आ गई।

(ङ) भावात्मक एकता

२३ नवम्बर १८८० को म० दयानद ने मैडम ब्लेवत्स्की को लिखा था—जिनका एक देश, एक भाषा, एकत्र जन्म, सहवास और विवाहादि व्यवहार-सम्बन्ध आपस में होते हैं, उनसे उनको जितना लाभ और उनकी उनमें जितनी

---

१. म० दयानन्द, इन्द्र विद्यावाचस्पति. पृ० ८२-८३।
२. दयानन्द-दिग्दर्शन, ब्रह्ममूर्ति, पृ० ४४।
३. हमारी पुस्तक 'धर्म और धर्मनिरपेक्षता'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रीति होती है उतना अन्य देशवासियों से अन्य देशवासियों को लाभ नहीं हो सकता। देखिए भाषा ही के केवल भेद से मुझको और यूरोपियन को कितनी कठिनता परस्पर उपकार करने में होती है। और जिनके पूर्वोक्त सब भिन्न हैं उनमें पूर्वोक्त बातें कम होती ही हैं। और जिनके वे सब एक हैं उनमें वे बातें सहज से शीघ्र अधिक होती हैं, इसमें क्या सन्देह है।[1]

एक दिन पण्डया मोहनलाल विष्णुलाल जी ने पूछा—भगवान् भारत का पूर्ण हित कब होगा ? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी ? दयानन्द ने उत्तर दिया—एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्णहित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहाँ सागर में नदियों की भाँति सारे सुख एक-एक करने प्रवेश करने लगा जाते है। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दे। फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जाएगा।...धर्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से, भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते है। जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते है।... इसके पीछे प्रमाद के कारण मनुष्य मुसलमान बन गये। अब प्रतिदिन सैंकड़ों ईसाई बनते जा रहे हैं। ऐसे समय तो सधर्म बंधुओं को कड़े हाथ से इनकी चोरियाँ पकड़कर भी जगाना होगा।[2]

(च) कर्मण्यता और परिश्रम से जीवन यापन और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग

म० दयानन्द की स्पष्ट घोषणा की कि सभी को समान वस्त्र, भोजन और आसन मिलना चाहिए, चाहे वे राजकुमार हों या निर्धन की सन्तान। परोपकारिणी सबका एक उद्देश्य दीन और अनाथ जन को सहायता देना भी रखा।[3] वे यह अनुभव करते थे कि देश में अकर्मण्यता एवं प्रमाद से देश की अर्थव्यवस्था खोखली हो गयी है। उन्होंने कर्मण्यता की वृत्ति जागरित की। सन् १८६८ में अमृतसर में स्वामी जी के एक व्याख्यान में बहुत से निर्मले आदि साधु आए और खड़े-खड़े ही भाषण सुनने लगे। दयानन्द ने उस समय

१. ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन, पृ० २५५।
२. श्रीमद्दयानंदप्रकाश, पृ० ५०७।
३. महर्षि दयानंद, इन्द्रविद्यावाचस्पति, पृ० १४२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा – सहस्रों भारतवासी पेट भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे बिल्ली कुत्ते की मृत्यु मरने जाते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ा-धड़ लोटेशाही और तूम्बेशाही बनने की क्या आवश्यकता है। इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चलानी चाहिए।[1] इस प्रकार उन्होंने स्वावलम्बन की शिक्षा दी। वे अच्छे अनुयायियों से प्रायः कहा कहते थे—स्वावलम्बन के सिद्धान्त का अवलम्बन करो, अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने पर ही निर्भर करो।[2]

म० दयानन्द ने प्रयाग-निवास के दिनों में जो उपदेश दिये, उनमें अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि देश में बड़े बड़े कारखाने खोलने चाहिए ताकि आर्थिक उन्नति हो सके।[3] हम 'अर्थ-व्यवस्था' नामक अध्याय में देख चुके हैं कि म० दयानन्द देश में शिल्प, व्यापार, कृषि एवं पशु-पालन की उन्नति के लिए अत्यन्त बल देते थे। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वे विदेश में व्यापार करके देश की आर्थिक प्रगति भी करना चाहते थे। वे समुद्र-यात्रा अधर्म है, आदि इस प्रकार के दकियानूसी विचारों के सर्वथा विरुद्ध थे। उन्हों ने कहा—क्या बिना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य-व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार और राज्य करें तो बिना दारिद्रय और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।[4]

देश की अर्थ-व्यवस्था के सुधार के सम्बंध में म० दयानन्द ने एक अन्य क्रान्तिकारी कदम उठाने का परामर्श दिया वह था—स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग। एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधो सिंह (छावली निवासी) अपने पिता ठाकुर भूपालसिंह जी के साथ स्वामी जी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आए। उस दिन ऊधोसिंह जी के वस्त्र नये ढंग के थे और सबके सब विलायती कपड़े के बने थे। स्वामी जी ने अति प्यार से कहा, ऊधव! देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे सारे और अपने देश के कपड़े के देने वस्त्र पहनते हैं। उनका समाज में कितना अधिक सम्मान है। क्या तुम इस विदेशी कपड़े से

---

१. श्रीमद्दयानंदप्रकाश, पृ० ३५७।
२. म० दयानंद, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० १४०।
३. ऋषि-दर्शन, दीवान चंद, कानपुर, (संवत् २०००), पृ० ६४।
४. सत्यार्थप्रकाश, दयानंद दिग्दर्शन, पृ० ४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक संस्कृत हो गये हो। ऊधव अपने ही देश के वस्तु वेष को अपनाने में शोभा है। स्वामी जी का यह उपदेश ऊधोसिंह जी के हृदय में घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे में जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।[1] दयानंद प्रायः कहा करते थे—देखो, तो अंग्रेज अपने बने हुए देश के जूते पहनते हैं और खान-पान भी स्वदेश में जैसा करते थे वैसा ही यहाँ भी करते हैं, उसे नहीं छोड़ते। तुम लोगों ने उनका अनुकरण किया, यह तुम्हारी दुर्गति का कारण है।[2]

इस प्रकार महात्मा गाँधी के स्वदेशी आंदोलन से बहुत पूर्व महर्षि दयानंद ने देशवासियों में स्वदेशी भावना भरी थी। संभवत: इन्हीं सब कारणों से पट्टाभिसीतारभय्या ने कहा है कि गाँधी राष्ट्रपिता, तो दयानंद राष्ट्रपितामह हैं।

(छ) राजस्थान के महाराजाओं तथा भारतीय प्रजा को मार्गदर्शन

महर्षि दयानंद ने राजस्थान के महाराजाओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क रखकर उनको मनुस्मृति आदि के द्वारा राजधर्म की शिक्षा दी थी। यज्ञशाला से ब्राह्मतेज तथा क्षात्रशाला से क्षात्रतेज उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। निष्पक्ष न्याय व्यवस्था स्थापित करने की प्रेरणा दी। उनको राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अनेक क्रांतिकारी और व्यावहारिक कदम उठाने के लिए तय्यार किया। अच्छे राज्य एवं सम्पूर्ण देश की उन्नति एवं स्वतन्त्रता के लिए उनमें अग्नि प्रदीप्त की। उन्होंने उनके लिए दिन-चर्या बनाकर दी और उनका व्यक्तिगत जीवन उन्नत किया और राज्य-नियम बनाकर किये, ताकि उनके अनुसार वे अपने राज्य की उन्नति करें।

म० दयानंद ने अनेक बार यह विचार प्रकट किया था कि भारत का भला तभी होगा जब रजवाड़ों का उद्धार होगा, यदि राजा लोग सुधर जाएं तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है?[3] उन्होंने राजस्थान के प्रत्येक राजा को देश की उन्नति के लिए प्रेरित किया। म० दयानंद के निम्नलिखित पत्रांश इस बात के द्योतक हैं कि इन राजाओं से क्या अपेक्षा करते थे :

(क) १ मई १८८३ के पत्र में दयानद ने रावराजा तेज सिंह को लिखा

—स्वदेशोन्नति में आप सब लोगों को दृढ़ोत्साह करके आप लोगों

---

१. श्रीमद्दयानंदप्रकाश, पृ० २४८।

२. दयानन्द-दिग्दर्शन, ब्रह्ममुनि, पृ० ४१।

३. म० दयानन्द के पत्र और और विज्ञापन, पृ० ४१०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा एक आर्यावर्त देश की बढ़ती कराके इस महापुण्यकीर्ति के भागी आप लोगों को करें। १९ मई को उन्होंने तेजसिंह जी को फिर लिखा—जो कुछ अपने आर्यावर्त देश की उन्नति है सो सब आप ही लोगों के द्वारा अवश्य हो रही है, और होगी।[1]

(ख) १० जून १८८३ के पत्र में म० दयानन्द ने शाहपुराधीश से पूछा—क्षात्रशाला का आरम्भ हो गया होगा। ३० जून के पत्र में फिर पूछा—क्षात्रशाला का आरम्भ हुआ कि नहीं ?[2] स्पष्ट है कि वे किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए देश के क्षात्रधर्म को जगाना चाहते थे। दयानंद केवल देश में यज्ञशाला ही बनवाने नहीं आए थे।

(ग) २३ जून १८८३ के पत्र में म० दयानन्द ने महाराज श्री प्रतापसिंह को लिखा—मारवाड़ तो क्या अपने आर्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें।[3]

(घ) सितम्बर १८८३ को जोधपुराधीश को आर्य राज्योत्कर्ष और वैदिक धर्म की उन्नति की प्रेरणा दी तथा राजोन्नति के लिए कुछ परामर्श (नियम) दिये। उन्होंने लिखा—एक लाख पच्चीस हजार रुपये आप, और दो लाख रुपए वहाँ के सरदारों से लेकर क्षात्रशाला स्थापित कीजिए। २५ हजार रुपये स्वराज्य में अनाथ, वृद्ध विधवाओं और रोगियों के पालन के लिए तथा १० हजार रुपये मेवाड़ में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए व्यय करें।[4]

(ङ) २५ सितम्बर १८८३ के पत्र में झालावाड़ के महाराणा को क्षात्रशाला खोलने की प्रेरणा देने के साथ लिखा कि सेनायें सुरक्षित अधिष्ठाता आर्यजन को रखना।[5]

इस प्रसंग में महर्षि दयानन्द की राजनैतिक प्रतिभा के एक अन्य निदर्शन का उल्लेख करना भी अपेक्षित हैं। जिन दिनों महर्षि दयानन्द जोधपुर में थे, अंग्रेज़ी सरकार की ओर से रियासत के एक अत्यन्त आवश्यक अन्तरंग विषय पर चिट्ठी प्राप्त हुई, जिसका उत्तर शीघ्र मांगा गया था। रियासत की

---

१. वही, पृ० ४२०।
२. वही, पृ० ४२८।
३. वही, पृ० ४३०।
४. वही, पृ० ४४८-४५०।
५. वही, पृ० ४७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौंसिल अभी उस पर विचार ही कर रही थी कि महाराजा ने उस चिट्ठी की चर्चा म० से कर दी। म० ने जो सलाह दी महाराजा ने उसके अनुसार ही उत्तर भेज दिया। उत्तर ऐसा चतुरतापूर्ण था कि उससे इंडिया आफ़िस चकित हो उठा। वहाँ से रेजीडेन्ट को लिखा गया कि जिस दरबार में इस पत्र पर चर्चा हुई उसकी तस्वीर भेजी जाय। जिससे पता लग सके कि यह उत्तर किस के दिमाग की उपज है। उस चित्र से भी जब इंडिया आफ़िस की जिज्ञासा शान्त न हुई तो महाराजा से सीधा पूछा गया। महाराजा ने सरलता से स्वामी जी का नाम लिख भेजा। तब विलायत से गवर्नर जनरल को यह भर्त्सना की गयी कि स्वामी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिए खुला क्यों छोड़ा गया ? इस आधार पर यह भी अनुमान है कि दयानन्द को विष दिलाने में ब्रिटिश सरकार का हाथ था, अथवा उनके चिकित्सकों का विष देने के उपरान्त इलाज इस प्रकार का था कि जिसने उनके प्राण हर लिये।[1]

राजस्थान के राजाओं के अतिरिक्त उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने भाषणों द्वारा प्रजा को भी उद्बोधित किया। इन व्याख्यानों में जाति और देश की उन्नति पर ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण दिया करते थे।[2] मेरठ में वार्तालाप के मध्य स्वामी जी ने कहा कि कलक्टर ने मेरा व्याख्यान सुनकर कहा कि यदि लोग आपके कथनानुसार चलने लगें तो हमें भारत छोड़ना पड़ेगा।[3] बड़ौदा में उन्होंने कहा कि भारतवासी योग्य हो जावें तो विदेशी लोग स्वयं हीं कह देंगे कि अब तुम अपना शासन-प्रबन्ध आप करें।[4] ये सब कथन दयानन्द की देश की स्वतन्त्रता के लिए तड़फ एवं उनकी दूरदर्शिता के द्योतक हैं।

अन्त में हम म० दयानन्द के तीन पत्रांश उद्धृत करके यह व्यक्त करते हैं कि वे देश को उन्नत देखने के कितने अभिलाषी थे—

—मार्च सन् १८७७ को माधोलाल जी को दयानन्द जी ने लिखा—

---

१. (क) आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स, महात्मा मुंशीराम।
   (ख) आर्य समाज का इतिहास, भाग ८, इन्द्रविद्यावाचस्पति पृ० ३२१-३२२।
२. श्री म० दयानन्द प्रकाश, पृ० ५०५।
३. दयानन्द-दिग्दर्शन, पृ० ४२।
४. वही, पृ० ४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने आर्यावर्त देश के सुधारने में अत्यंत श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होनी चाहिए। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशों के काटने और सुखों को बढ़ाने के लिए प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म है। इसके प्रचार की वेद में आज्ञा पाई जाती है।[४]

—२४ जुलाई १८८२ को म० दयानंद ने अपने प्रिय शिष्य रामानन्द को लिखा—परमात्मा से सदा यही प्रार्थना करता हूँ कि आप महाशय पुरुषों की बुद्धि को परोपकार के करने में निरंतर नियुक्ति किया करें। जिससे पुनः आर्यावर्त देश अपनी पूर्व-दशा को सम्प्राप्त होकर अपने मनुष्य रूपी वृक्ष में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चतुष्टय फलों से संयुक्त होकर परमानंद भोगे।

—१७ अगस्त १८८३ को ठाकुर नंद किशोर (सभासद् राज्य-परिषद्) को लिखा—बड़े प्रयत्न प्रीति और दृढ़ोत्साह से आर्यावर्त देश के परम हित-कारक सभा के उद्देशों को अपने तन, मन, धन से पूरा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहें।

प्रभु हमें भी म० दयानंद द्वारा प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था की उच्च भावना के अनुसार इस देश की राजनीति को प्रभावित करने की शक्ति दे। देश का सर्वाङ्गीण विकास करने में बल दे।

70132

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
Library

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायता—
माराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः, सभयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरों जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो
न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।।

—यजुर्वेद २२.२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Gurukul Kangri Library
Acces on
Class on
Cat. on
Tag etc
Checked
Any Other

Entered in Database
Signature with Date

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar